सात्त्विक अभिनय के विशेष सन्दर्भ में चतुर्विध नाट्याभिनय के सिद्धान्त एवं प्रयोग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल् उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

पर्यवेक्षक
डा० हरिदत्त शर्मा
प्रवक्ता
संस्कृत-विभाग

प्रस्तोत्री
प्रतिभा मिश्रा

संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
१९८८

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम् ।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम् ॥

आत्म-निवेदन

काव्य लोक रञ्जन के साथ ही अपने अन्दर निहित सारगर्भित उद्देश्यों के द्वारा लोक का मार्गदर्शन भी करता है। काव्य की दृश्य-काव्य विधा को श्रव्य की अपेक्षा जो अधिक महत्त्व प्राप्त है उसका कारण दृश्य-काव्य का रंगकर्म से सम्बन्धित होना है। रंगकर्म के माध्यम से नाट्यार्थ मूर्त रूप धारण करके जीवन्त हो उठते हैं। रंगकर्म का प्राण तत्त्व है अभिनय। भारतीय नाट्य-शास्त्रीय विचार धारा में अभिनय को अत्यन्त व्यापक अर्थों में ग्रहण किया गया है अतः अभिनय के अन्तर्गत अधिकांशतः रंगकर्म के सभी तत्त्व समाहित हो गये हैं। सात्त्विक भावाभिनय के माध्यम से मानव की जटिल संवेदनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है। प्राचीन भारतीय संस्कृत-नाट्यशास्त्रीय परम्परा में अभिनय के इस प्रभेद का सूक्ष्म विवेचन प्राचीन भारत की गौरवमयी संस्कृति की प्रत्यभिज्ञा कराता हुआ तत्कालीन उन्नत नाट्य कला को भी स्पष्ट करता है। अतः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सात्त्विक अभिनय का विशेष सन्दर्भ देते हुये अभिनय को विवेचित करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में जिन ग्रन्थों का सहयोग लिया गया है, उनमें से प्रमुख ग्रन्थों के संस्करण सहायक-ग्रन्थ-सूची में दिये गये हैं।

इस शोध-प्रबन्ध के निर्देशन के लिये मैं अपने निर्देशक गुरुवर्य डा० हरिदत्त शर्मा के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिनके निर्देशन में यह कार्य समाप्त हो सका।

मेरी माँ ने अस्वस्थ रहते हुये भी मुझे जो सहयोग एवं प्रेरणा प्रदान की, उसके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन शब्दों द्वारा सम्भव नहीं है। वस्तुतः यदि ईश्वर कहीं पर प्रतिबिम्बित है, तो वह वात्सल्यमयी जननी के स्वरूप में ही है। मेरा यह शोध-प्रबन्ध पूज्य पिता श्री वीरेश चन्द्र मिश्र एवं कल्याणमयी देवी माँ श्रीमती सरोज मिश्रा के पुनीत चरणों में सादर समर्पित है।

मेरे अग्रज श्री अनिमेष मिश्र एवं अनुज श्री राजीव मिश्र तथा कतिपय शुभाकांक्षि जन यथा - नीरू, राधा एवं सुप्रिया से भी विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है, तदर्थ उनकी कृतज्ञ हूँ ।

प्रतिभा मिश्र

विषयानुक्रमणी

पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय

अभिनय — स्वरूप - विवेचन

भूमिका

मानव को सौन्दर्य-सृष्टि के द्वारा अलौकिक आनन्द की प्राप्ति कराने में काव्य सर्वोत्तम साधन है । संस्कृत-आचार्यों के अनुसार काव्य के दो भेद हैं - दृश्य-काव्य एवं श्रव्य-काव्य । श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य अधिक उत्तम माना गया है । श्रव्य-काव्य में मात्र श्रवण के माध्यम से रसानुभूति होती है, किन्तु दृश्य-काव्य के माध्यम से सामाजिक को श्रव्य-काव्य से अपेक्षाकृत तीव्र रसानुभूति होती है, क्योंकि उसमें सभी विचार तथा भाव मूर्त-रूप धारण कर अत्यधिक जीवंत प्रतीत होते हैं । सामाजिक को अधिक कल्पनाशीलता का आश्रय नहीं लेना पड़ता है ।

संस्कृत-नाट्य-शास्त्र के प्रणेता आचार्यों की मूल दृष्टि रस-परक रही है । सारा नाट्य-विवेचन मूलतः रस-परक ही है । नाट्य को रसाश्रित माना गया है । नाट्य-कला का मूल उद्देश्य सामाजिक को नाट्य-कृति के प्रस्तुतीकरण के माध्यम से रसानुभूति कराना है । यह मूल उद्देश्य अभिनय के प्रभाव से ही सम्पन्न होता है । अभिनय ही काव्य को नाट्य-रूप में परिणत करता है तथा नाट्यार्थ को प्रदर्शित करके प्रेक्षक के हृदय में रसानुभूति को उत्पन्न करता है । यदि नाट्य से अभिनय-तत्त्व को निष्कासित कर दिया जाय तब नाट्य शब्द की सार्थकता ही समाप्त हो जायेगी । नाट्य अभिनीत होकर ही प्राणवत्ता को प्राप्त करता है, अन्यथा नाट्य-कृति मात्र श्रव्य-काव्य ही रह जायेगी । नाट्य के अर्थ अभिनीत होकर ही अपना यथेष्ट प्रभाव अंकित कर सकने में समर्थ हो पाते हैं । अतएव अभिनय नाट्य का प्रमुख तत्त्व है । उत्कृष्ट अभिनय से रहित नाट्य उपहसनीय बन जाता है और नाट्यार्थ को प्रेषित कर सकने में असमर्थ रहता है ।

वस्तुतः नाट्य-कला समन्वित कलात्मक इकाई है । अभिनय इसका एक अंश है, किन्तु रसोद्बोधन में अपनी प्रमुख भूमिका के कारण अभिनय का नाट्य-कला में प्राधान्य है ।

अभिनय — अर्थ एवं स्वरूप

अभिनय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि अभिपूर्व

के द्योतक अभि उपसर्ग को णीञ् धातु से योजित करने पर उसके अच् प्रत्ययान्त प्रयोग से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसे अभिनय कहते हैं ।[1] इसे अभिनय इसलिये कहा गया है, क्योंकि यह अनेक अर्थों को नाट्य-प्रयोग द्वारा अपने शाखा, अङ्ग तथा उपाङ्ग से युक्त होकर निर्दिष्ट करता है ।[2] अर्थात् अभिनय नाट्य के कलात्मक सौन्दर्य एवं अर्थवत्ता के समग्र मर्म को सामाजिक के समक्ष विवृत करता है ।

आचार्य भरत ने सर्वत्र नाट्य को लोकवृत्तानुकरण कहा है ।[3] वस्तुतः यहाँ अनुकरण से उनका तात्पर्य अभिनय से है । परवर्ती नाट्याचार्यों ने भी भरत के विचारों का समर्थन किया है । आचार्य धनञ्जय ने दशरूपक में अवस्थाओं के अनुकरण को नाट्य कहा है ।[4] धनिक ने इसकी व्याख्या करते हुये कहा है कि काव्य में वर्णित पात्रों की

---

1. अभिपूर्वस्तु णीञ्धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये ।
   यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मादभिनयः स्मृतः ।।
   - नाट्यशास्त्र 8/6

2. (क) विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः ।
   शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः ।।
   - नाट्यशास्त्र 8/7

   (ख) अभिनयत्यभिव्यनक्ति पदार्थमित्यभिनयः पचाद्यन्तः । अभिपूर्वस्तु णीञ्धातुराभिमुख्यार्थ निर्णये । यस्मात् पदार्थान् नयति तस्मादभिनयः स्मृतः । - प्रतापरुद्रीयम् (नाटक प्रकरण), पृ० 121-122.

   आभिमुख्यं नयन्नर्थान्विज्ञेयोऽभिनयो बुधैः ।।
   - अग्निपुराण 6/1

3. लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम् ।
   - नाट्यशास्त्र 1/112

4. (क) अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्
   - दशरूपक 1/7

   (ख) काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्
   - दशरूपक, प्रथम प्रकाश (वृत्तिभाग), पृ० 6.

धीरोदात्तादि अवस्थाओं का चार प्रकार के अभिनय द्वारा एकरूपता प्राप्त कर लेना ही नाट्य है। आचार्य विश्वनाथ ने इसी विचार का समर्थन करते हुये अभिनय को अवस्था का अनुकरण कहा है।[1]

इन आचार्यों की परिभाषाओं के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है अनुकरण ही अभिनय है। क्या अनुकरण ही अभिनय है? यह विषय विचारणीय है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य निसर्गतः एक अनुकरणशील प्राणी है। मनुष्य शैशवावस्था से ही आस-पास के पर्यावरण से भाषा, आचार, व्यवहार सभी कुछ सीखता है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन अनुकरण से प्रभावित है। सीखने की प्रक्रिया में अनुकरण एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। नाट्य-कला प्रकारान्तर से जीवन-कला का ही पर्याय है। लोक-व्यवहार से परे कोई भी कला ग्राह्य नहीं हो सकती है।

नाट्य के भाव या विचार हमारे परिवेश और जीवन से गृहीत होते हैं। अतः उनके प्रस्तुतीकरण में अभिनय का आधार हमारा जीवन और परिवेश ही होगा। आवश्यक नहीं है कि अभिनेता नाट्य में वर्णित परिस्थितिगत सभी भावों की स्वानुभूति रखता हो। जिन भावों को उसने जीवन में कभी अनुभव ही नहीं किया हो, उनका अभिनय तो अनुभव के माध्यम से ही सम्भव है। अतएव अभिनय में अनुकरण एक आवश्यक तत्त्व है। आचार्य भरत ने इसीलिये अनुकरण तत्त्व पर अधिक बल दिया है:

> नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
> लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥[2]
> उत्तमाधममध्यानां नाराणां कर्म संश्रयम्।

नाट्य विभिन्न प्रकार के मनुष्यों के कर्मों पर आधारित होता है तथा इसमें

---

1. भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः।
   - साहित्यदर्पण, 6/2

2. नाट्यशास्त्र, 1/112, 113

लोक-व्यवहार का अनुकरण भी होता है । यहाँ पर यह भ्रम न होना चाहिये कि सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य ही लोक का अनुकरण है, क्योंकि भारतीय आचार्यों की दृष्टि पाश्चात्य आचार्यों से इस तथ्य पर भिन्न है । पाश्चात्य विद्वानों ने सम्पूर्ण काव्य को अनुकरण माना है, किन्तु यहाँ भरत ने अनुकरण शब्द का प्रयोग केवल अभिनय के अर्थ में ही किया है । आगे भरत कहते भी हैं :-

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुख दुःख समन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥[1]

सुख और दुःख से मिश्रित जो यह संसार के लोगों का स्वभाव है वही आङ्गिकादि अभिनय से संयुक्त होकर नाट्य कहलाता है, अर्थात् अभिनय द्वारा ही नाट्य अभिव्यक्त होता है । अनुकरण के सभी तत्व बाह्य वातावरण में ही रहते हैं । अतः लोक-व्यवहार के अवलोकन और उनके अनुकरण द्वारा नाट्यार्थ को अभिनय के माध्यम से प्रकट किया जाता है ।

किन्तु यह विचारणीय है कि अनुकरण की व्याख्या कैसी हो ? अनुकरण का स्तर कैसा हो ? यदि किसी व्यक्तिविशेष की चेष्टाओं का अनुकरण करके दिखाया जायगा तो वह अनुकरण अभिनय नहीं, अपितु स्वांग की कोटि में आयेगा । यह कृत्य जन-सामान्य में मात्र हास की सृष्टि करने के कारण उपहसनीय बन जाने से अनुकार्य के हृदय में विषाद भी उत्पन्न कर सकता है । इसी तरह यह भी प्रश्न उठता है, क्या मानव की चेष्टाओं का अनुकरण करने वाला वानर अनुकारक है ? वस्तुतः वानर को यहाँ अनुकारक कहना असङ्गत होगा । वानर की चेष्टायें मात्र नकल है अनुकरण नहीं । अनुकरण एवं नकल में पर्याप्त भेद है । अनुकरण एक जटिल प्रक्रिया है ।

लौकिक स्तर पर कोरे यथार्थ का अनुकरण जो रसानुभूति नहीं उत्पन्न कर सकता, अभिनय नहीं हो सकता । अभिनय में स्वाभाविकता के साथ-साथ कलात्मक सौन्दर्य का सन्निवेश भी आवश्यक है । इस तथ्य पर भी आचार्य भरत ने सूक्ष्म दृष्टि

---

1. नाट्यशास्त्र, 1/121

से विवेचन किया है । वस्तुतः अनुकरण न तो पूर्णतया कृत्रिम होना चाहिये न पूर्णतया यथार्थ होना चाहिये । इसीलिये आचार्य भरत ने अभिनय के सन्दर्भ में अन्य तत्वों के साथ ही नाट्य-शास्त्र में नाट्य-धर्मी एवं लोकधर्मी रूढ़ियों की भी विवेचना की है । दोनों के नाम ही उनके अर्थों के अभिव्यन्जक हैं । नाट्य-धर्मी रूढ़ि के अन्तर्गत प्रस्तुतीकरण को कलात्मक रूप प्रदान किया जाता है, किन्तु यह स्वरूप लोक-प्रचलित होने के कारण सर्वथा ग्राह्य होता है । लोक-धर्मी में चतुर्विध अभिनय का प्रयोग नहीं होता है । नाट्य-धर्मी रूढ़ि में चतुर्विध-अभिनय के माध्यम से नाट्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है । नाट्य-धर्मी रूढ़ि में अभिनय अधिक कलात्मक, कल्पना-वैचित्र्य से युक्त होता है । अतएव भरत ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि नाट्य-धर्मी द्वारा सम्पन्न होने वाले नाट्य-प्रयोग का प्रदर्शन करना चाहिये ।

अरस्तू के विचार भरत के विचारों में आश्चर्यजनक रूप से समता रखते हैं,जबकि दोनों में देश एवं काल का पर्याप्त भेद विद्यमान है । अरस्तू के अनुसार अनुकृति प्रकृति क्षेत्र में प्राप्त मूल वस्तु से अत्यधिक समान रूप से होने के कारण भ्रान्ति उत्पन्न नहीं करती, अपितु बाह्य जगत् में प्राप्त वस्तु से या तो अधिक श्रेष्ठ होती है या अधिक निम्न होती है । यह यथार्थ जगत् से प्राप्त मूल वस्तु के उन्नत और विकसित रूप को प्रकट करती है । अरस्तू के ये विचार भरत की नाट्य-धर्मी-रूढ़ि सम्बन्धी दृष्टि के नितान्त निकट हैं । अरस्तू के अनुसार अनुकरण केवल बाह्येन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है,बल्कि मनोमात्र-ग्राह्य का भी अनुकरण होता है । भावावेग, भावनायें ध्वनियाँ सभी समान रूप से अनुकरणीय हैं । भरत भी, सात्विक अभिनय-प्रभेद के उल्लेख द्वारा मानसिक भावों का अनुकरण होता है, इस बात की पुष्टि करते हैं । सात्विक-अभिनय के द्वारा मानसिक भावों का प्रस्तुतीकरण किया जाता है । अरस्तू अनुकरण को एक नैसर्गिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं ।[1] यद्यपि कुछ स्थानों पर भरत के विचार अरस्तू

1. Imitation is natural to man from childhood upwards. One of the things that make him superior to brute beasts is the fact that he is the most imitative of all animals, and it is moreover natural for all human being to delight in work of imitation.

Manisha-1976 'Bharata, Aristole and Imitation'.

की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म एवं व्यापक है । अरस्तू काव्याङ्ग के रूप में नाट्य को परिभाषित करते हुये उसकी संवाद-प्रणाली को प्रमुखता प्रदान करते हैं, जबकि आचार्य भरत इसको अभिनय की एक प्रणाली अर्थात् वाचिक-अभिनय के अन्तर्गत परिगणित करते हैं :

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता ।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ।।[1]

अरस्तू ने नाट्य-कला के अन्तर्गत कलात्मक अनुकरण को स्वीकृति प्रदान की है[2], किन्तु भरत की तरह नाट्य-धर्मी जैसी विचारधारा का प्रतिपादन नहीं किया गया है । कई स्थानों पर दोनों ही विद्वानों के विचार आश्चर्यजनक रूप से समान हैं । अरस्तू स्पष्टतया कहते हैं कि त्रासदी किसी व्यक्ति मात्र का अनुकरण नहीं है, बल्कि क्रिया और सुख-दुःखात्मक जीवन का सामान्य रूप में अनुकरण है ।[3] इसी प्रकार भरत भी 'लोकवृत्तान्तदर्शकम्' 'लोकवृत्तानुकरणम्' इत्यादि उक्तियों के माध्यम से अनुकरण के इसी स्वरूप की व्याख्या करते हैं ।[4]

आचार्य भरत द्वारा भावों के अनुकरण को महत्त्वपूर्ण तथ्य बताया गया है ।

---

1. नाट्यशास्त्र 15/2

2. Artistic imitation as indistiguishable from this............
   Manisha-1976, 'Bharata, Aristotle and imitation'.

3. Aristotle is very explicit on this point, tragedy is an imitation not of person but of action and life of happiness and misery.

   Manisha-1976, 'Bharata, Aristotle and imitation'.

4. नाट्यशास्त्र 1/112

सुकरात ने भी भावों के अनुकरण को, जो कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष से परे है, अनुकरण का क्षेत्र माना है । भारतीय आचार्य नाट्य-दर्पणकार ने भी भरत की ही परम्परा का पोषण करते हुये अभिनय को "यथाभावमनुक्रिया" कहा है[1], अर्थात् यथोचित भावों से रहित अनुकरण अभिनय नहीं हो सकता है । नाट्यदर्पणकार के अनुसार एक के द्वारा कहे गये तथा दूसरे के द्वारा यथोचित भावों का अनुकरण किये बिना जो कथन करना है वह केवल अनुवाद है, उसको वाचिक अभिनय नहीं कह सकते हैं । यहाँ पर नाट्यदर्पणकार का यह मत प्रतीत होता है कि किसी भी अवस्था के एकांश का अनुकरण अभिनय नहीं कहलाता, किसी भी अवस्था का समग्र अनुकरण ही अभिनय की कोटि में आ सकता है।

नाट्य रूढ़ि के सन्दर्भ में भरत द्वारा अभिनय के विषय में व्यक्त विचारों में लोक-व्यवहार के अनुकरण के जिस पक्ष पर विचार किया गया है, उससे एडीसन लाॅक के विचार कुछ साम्य अवश्य रखते हैं । एडीसन लाॅक के अनुसार अनुकृति प्राकृतिक जगत् में प्राप्त वस्तुओं से अधिक महान्, अधिक विचित्र तथा सुन्दर होनी चाहिये, किन्तु इस प्रकृति-संशोधन की प्रक्रिया ऐसी न हो कि रचना प्रकृति से एकदम दूर हो जाये । आचार्य भरत भी अनुकरण को कलात्मक दृष्टि प्रदान करने के प्रति अधिक सचेष्ट दिखलाई पड़ते हैं । इसीलिये इन्होंने नाट्य-धर्मिता का विवेचन प्रस्तुत किया है, साथ ही भरत लोक-व्यवहार से परे कलात्मकता को स्वीकार भी नहीं करते हैं ।

"लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा ।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ।।"[2]

अतः यह स्पष्ट है कि अभिनय में अनुकरण तत्व अवश्य निहित है । अनुकरण एक परिमार्जित प्रक्रिया है, इसमें मनुष्य की व्यक्तिगत विशेषतायें भी समाहित होती हैं ।

---

1. नाट्य-दर्पण - तृतीय विवेक का वृत्तिभाग, पृ० 192.

2. नाट्य-शास्त्र 26/121.

यदि अभिनेता अनुकरण करता है, तब यह प्रश्न उठता है कि वह किसका अनुकरण करता है ? क्योंकि नाट्य में वर्णित पात्र चाहे वे ऐतिहासिक हों या कवि की कल्पना से सम्भूत हों, उनका चरित्र कवि की कल्पना पर आधृत होता है । अतः अभिनेता उनकी अवस्थाओं का अनुकरण किस आधार पर करता है ? इस विषय पर भारतीय-नाट्याचार्यों ने विस्तार से विवेचन किया है । रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इस समस्या को नाट्यदर्पण में उठाया भी है ।[1] यह प्रश्न उठना स्वाभाविक भी है । अभिनेता नाट्य में वर्णित पात्रों का अनुकरण कर ही नहीं सकता, क्योंकि वे ऐतिहासिक होते हैं या काल्पनिक । ऐतिहासिक पात्र इतिहास की वस्तु होते हैं, देश-काल की परिधि अलङ्घनीय है । अतः वह नट के द्वारा देखे नहीं जा सकते हैं । काल्पनिक पात्र तो कवि के अन्तःसम्भूत होते ही हैं उनका तो प्रत्यक्षीकरण सम्भव ही नहीं है । अतएव बिना देखे हुये का अनुकरण कैसे किया जा सकता है । व्यक्ति केवल उसी का अनुकरण कर सकता है, जिसका ज्ञान प्रत्यक्षीकृत हो । अनुकरण मूल कार्य का परिमार्जित रूप है । जब मूल कार्य ही नहीं है, तब उसका अनुकरण कैसे होगा ?

प्रेक्षकगण भी नाट्यकला का अपरिहार्य अङ्ग हैं । अतः दर्शकों को भी यह विश्वास होना आवश्यक है कि यह अनुकार्य की ही चेष्टायें हैं ।

आचार्य शङ्कुक ने रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया है कि नट शिक्षाभ्यास तथा नैपुण्य के कारण अनुकार्यगत भावों का सफल अनुकरण करता है । उसके द्वारा प्रदर्शित कृत्रिम तथा अनुकरणरूप विभावानुभावव्यभिचारिभावादि को प्रेक्षक मिथ्या न मानकर विभावादि होने के कारण यहाँ नट में ही रस है, इस अनुमिति से आनन्द-लाभ करता है ।[2] किन्तु आचार्य शङ्कुक का मत सर्वथा अमान्य है । सर्वप्रथम अनुकार्य को न देखने के कारण नट अनुकार्य का अनुकरण नहीं कर सकता तथा अनुमान के कारण रस की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि रस की प्रतीति सत्कालापेक्षी है, जो साक्षात्कार से सम्भव है अनुमान से नहीं ।

---

1. नाट्य-दर्पण तृतीय-विवेक ।वृत्तिभाग। पृ0 191-192.

2. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास ।वृत्तिभाग। पृ0 123.

आचार्य अभिनवगुप्त ने अनुकरण से तात्पर्य सदृशकरण से लिया है । अतः उनके अनुसार नट सीता-रामादि में रहने वाले हर्ष-शोकादि का अनुकरण नहीं करता है । उसकी पुष्टि में वृत्तिकार ने दो कारण दिये हैं । एक तो यह कि वास्तव में नट में तो हर्ष शोकादि होते ही नहीं हैं । अपने भीतर सर्वथा अविद्यमान हर्ष, शोक को, राम के हर्ष, शोक के समान कैसे बना सकता है ? दूसरा कारण यह है कि नट के भीतर वास्तविक हर्ष, शोक की स्थिति मानी जाय तब वह हर्ष, शोक तो वास्तविक हो जायेंगे । उन्हें अनुकरण रूप कैसे कहा जायगा ? तथापि नट के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले हर्ष, शोकादि की प्रतीति दर्शक को होती है । अतएव वृत्तिकार ने कहा है कि नट राम के सदृश हर्ष शोकादि को नहीं प्रकट करता है, किन्तु उनके सजातीय हर्ष, शोकादि को करता है ।[1] यहाँ पर सजातीय से तात्पर्य है जो नित्य होकर अनेक में समवेत हो अतएव यहाँ पर अभिनवगुप्त ने इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया है कि अभिनेता ऐतिहासिक या काल्पनिक पात्र का अभिनय किस प्रकार करता है । सीता-राम यद्यपि इस समय नहीं हैं किन्तु हर्ष-शोकादि का जो अभिनय नट प्रस्तुत करता है, वह यद्यपि उनको न देखने के कारण उनका अनुकरण तो नहीं कर सकता है, परन्तु जाति या सामान्य नित्य धर्म हैं, इसलिये भिन्न-कालीन व्यक्तियों में साजात्य रह सकता है । अतएव नट जिन हर्ष शोकादि को अभिनय द्वारा प्रकट करता है, वह हर्ष-शोकत्वादि जाति पूर्व काल में राम इत्यादि में भी थी । सादृश्य व्यक्ति-विशेष में ही पाया जाता है, किन्तु साजात्य साधारणीकृत अर्थों में होता है । अतएव नट के द्वारा लोक-व्यवहार के अनुभव का अभिनय के द्वारा प्रदर्शन साधारणीकरण के अलौकिक व्यापार द्वारा साधारणीभूत होकर व्यक्ति-सम्बद्ध नहीं रहता है । जिसके कारण दैनन्दिन जीवन में प्रत्यक्ष क्रियायें भी अलौकिक प्रतीत होती हैं ।

अभिनव-गुप्त के इस सिद्धान्त पर विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि भाव यद्यपि एक सामान्य संज्ञा है, तथापि वह व्यक्ति-व्यक्ति और काल-काल की दृष्टि से भिन्न भी होती है । जैसे क्रोध भाव हजारों वर्ष पहले भी रहा होगा, किसी अनुकार्य

---

1. अभिनवभारती भाग-1, प्रथम अध्याय, पृष्ठ संख्या 119.

के काल में और आज भी विद्यमान है । विभिन्न स्थानों और विभिन्न व्यक्तियों में रहता है । आधार-भिन्न होते हुये भी वह एक अखण्ड-बोध है, अखण्ड अनुभूति है। यही कारण है कि देशकाल की इतनी दूरी रहते हुये भी अनुकार्य के भावों का अभिनय वर्तमान-कालीन पात्र भी कर लेता है ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अनुकरण को अत्यन्त सङ्कुचित अर्थों में ग्रहण किया है । भरत ने अनुकरण को अत्यन्त व्यापक अर्थों में ग्रहण किया है । यही कारण है कि अभिनवगुप्त अनुकरण का तात्पर्य मात्र सदृशकरण मानते हैं । अभिनवगुप्त ने सजातीय शब्द का प्रयोग किया है । यदि भरत के विवेचन का सूक्ष्मता से अवलोकन किया जाय तब यह शब्द उनकी अनुकरण की व्याख्या में ही समाहित हो जाता है । आचार्य भरत किसी व्यक्ति-विशेष अनुकरण का निर्देश ही नहीं देते हैं । उनका स्पष्ट रूप से कथन है कि नट व्यक्तिविशेष का नहीं, अपितु लोकव्यवहार का अनुकरण करता है । वे कहते भी हैं :

'सप्तद्वीपानुकरणं नाट्ये ह्यस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।
देवानामसुराणाञ्च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्
ब्रह्मर्षीणाञ्च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम् ।।'[1]

अतः लोकव्यवहार का अनुकरण साधारणीकृत अर्थों में ही है, व्यक्तिविशेष से सम्बद्ध अर्थों में नहीं । यद्यपि अभिनवगुप्त ने सजातीय शब्द का प्रयोग अत्यन्त उचित अर्थों में किया है तथापि भरत द्वारा प्रतिपादित अनुकरण शब्द अपने अत्यन्त व्यापक स्वरूप के कारण अभिनय की गरिमा को वहन करने में समर्थ है । अनुकरण की प्रस्तुत की गई समग्र व्याख्या इस तथ्य को हृदयङ्गम कराने में सर्वथा समर्थ है ।

अनुकरण अभिनय प्रक्रिया का एक आवश्यक तत्त्व है किन्तु मात्र अनुकरण ही अभिनय नहीं है । यह अभिनय-कला का प्रथम सोपान है । वस्तुतः अभिनय करने

---

1. नाट्यशास्त्र 1/119-120.

वाला अभिनेता अभिनय-प्रक्रिया का आधार होता है । अतः अभिनेता की विशेषताओं की अपेक्षा नहीं की जा सकती है । कुछ मनीषियों की अपेक्षा विचार है कि अभिनय-प्रक्रिया में अभिनेता अपने ऊपर पात्रगत अवस्थाओं का आरोपण कर लेता है ।[1] आरोप से तात्पर्य है दो वस्तुओं के भेद को जानते हुये भी एक वस्तु में उससे भिन्न दूसरी वस्तु का व्यवहार या प्रतीति होना है । अर्थात् अभिनेता वस्तुतः अनुकार्य नहीं होता है, किन्तु अनुकार्य की सुख दुःखरूप अवस्थाओं को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है । जिस प्रकार चरण-कमल में चरण और कमल में भेद रहते हुये भी अभेद का आरोपण अत्यन्त साम्य के कारण किया गया है । इसी प्रकार अभिनेता भी आरोपण के कारण अनुकार्य ही प्रतीत होता है । लेकिन आरोपित अवस्थायें अभिनय नहीं हो सकती हैं, क्योंकि आरोपण में अभिनेता के व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का हनन होता है, जबकि अभिनय अभिनेता की ही कृति है । किसी भी व्यक्तित्व पर आरोपित अवस्थायें सौन्दर्य को प्राप्त नहीं कर सकतीं, जब तक वे मन के द्वारा स्वीकृत न हों । अतः आरोपण द्वारा अभिनय की व्याख्या असम्भव है । आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र के मतानुसार नट 'रामादि का अनुसरण कर रहा हूँ ।' इस प्रकार का अध्यवसाय करता है ।[2] इसी अध्यवसाय के आधार पर उसका कार्य अनुकरण कहा जाता है । यहाँ पर अध्यवसाय शब्द की व्याख्या आवश्यक है । 'विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः' जहाँ विषय को हटाकर विषयी से उसकी अभेदप्रतीति की जाय उसे अध्यवसाय कहते हैं । जैसे किसी अत्यन्त सीधे या मूर्ख व्यक्ति को लोग 'गौ' कहते हैं । यहाँ पर विषय या उपमेय रूप पुरुष को हटाकर गौ के साथ उसके तादात्म्य या अभेद का व्यवहार किया जाता है ।

यहाँ पर नाट्यदर्पणकार का तात्पर्य यह है कि अभिनय करते समय अभिनेता में

---

1. (क) दशरूपक 1/9

   (ख) साहित्यदर्पण 6/1

2. नाट्यदर्पण - तृतीय विवेक का वृत्तिभाग, पृ0 191.

अनुकार्य एवं अनुकर्ता की भावना समाप्त हो जाती है । वहाँ वह पात्र के साथ इस प्रकार का तादात्म्य स्थापित कर लेता है कि केवल अनुकार्य की ही स्थिति होती है, अर्थात् अभिनय ऐसी कला है जिसमें नट पात्र में अपने को विसर्जित कर देता है । अभिनय करते समय अभिनेता अपने व्यक्तित्व को हटाकर पात्रगत अवस्थाओं से अभेद स्थापित कर लेता है । अतः आत्म-विसर्जन के कारण अभिनय मात्र थोपी हुई वस्तु न होकर अन्तःकरण के द्वारा स्वीकरणीय हो जाती है और अभिनेता अभिनयकला की ऊँचाईयों को छू सकने में समर्थ हो जाता है । वस्तुतः अभिनेता उस आत्मा की भाँति है जो, सत् , चित् एवं आनन्द-स्वरूप होने के कारण शाश्वत एवं स्वतंत्र है । तथापि आत्मा अपने स्वभावादि का परित्याग कर, धारण किये गये शरीर के अनुकूल स्वभाव को अपना लेती है और इस प्रकार धारण किये हुये शरीर के अनुसार आत्मा अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेती है । उसी प्रकार अभिनेता को भी अपने व्यक्तित्व का परित्याग कर नाटक के पात्र के साथ पूर्ण रूप से तादात्म्य स्थापित कर उसके व्यक्तित्व को अपनाना चाहिये ।[1]

अतः यह स्पष्ट है कि आरोपण के द्वारा अभिनय-प्रक्रिया श्रेष्ठ नहीं हो सकती है । नाट्यदर्पणकार द्वारा इस सन्दर्भ में प्रस्तुत व्याख्या सर्वथा उचित एवं ग्राह्य है । नट के हृदय में यह भाव विद्यमान रहना परमावश्यक है कि वह स्वयं अनुकार्य नहीं, अपितु अनुकार्य का अनुसरण कर रहा है । अभेद प्रतीति से यहाँ तात्पर्य यह नहीं है कि अनुकर्ता अपने को अनुकार्य ही मान ले । ऐसी स्थिति में राम बना हुआ नट यदि रावण बने हुये अभिनेता का वध कर देगा, तब उसका यह कृत्य मूर्खतापूर्ण क्रिया ही कही जायेगी, उत्कृष्ट अभिनय नहीं । नाट्यदर्पणकार ने 'अध्यवसाय' शब्द का प्रयोग वस्तुतः इस अर्थ में किया है कि अभिनेता जिस भूमिका में अवतरित हो, उसको हृदय से स्वीकार करे । जब तक वह पूर्णनिष्ठा से अपने अभिनयकर्म के प्रति समर्पित नहीं होगा, उत्कृष्ट अभिनय का सम्पादन नहीं कर सकेगा । यह सर्वथा सत्य है कि हृदय द्वारा स्वीकृत विषय का प्रतिपादन कुशलता के साथ होता है । अतः अपने अभिनयकर्म को निष्ठा के साथ ग्रहण करने पर ही अभिनेता अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा, कल्पना-वैभव, श्रम एवं प्रयत्न के द्वारा अभिनय की उत्कृष्टतम ऊँचाइयों को प्राप्त कर सकेगा तथा नाट्यगत अर्थों को सही अर्थों में मूर्त रूप प्रदान कर प्रेक्षकों के मध्य सम्प्रेषित कर सकने में समर्थ होगा ।

---
1. अभिनव भारती भाग - 3 पृष्ठ - 124

अभिनय-प्रक्रिया एवं अभिनेता का व्यक्तित्व

अभिनेता अपने अभिनय के माध्यम से नाट्य-कृति में प्राणों का संचार करता है। नाटककार के भावों और विचारों को मूर्त रूप प्रदान करता है। अभिनेता श्रव्यकाव्य को अभिनय-क्षमता, अभ्यास एवं व्यक्तिगत प्रतिभा के माध्यम से प्रस्तुतीकरण द्वारा सहृदय को रसानुभूति की ओर ले जाता है, अतः अभिनेता कहलाता है।

संस्कृतसाहित्य में अभिनेता को अनेक नामों से जाना जाता है, यथा शैलूष, भरत, नट इत्यादि।[1] 'नट' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ लें तो 'नट' अवस्पन्दने इस धातु का अर्थ है-कुछ चलना। अतः अभिनय करने वाले व्यक्ति के नट शब्द का प्रयोग होता है। भावप्रकाशन में 'शैलूष', 'नट' तथा 'भरत' की परिभाषा अलग-अलग प्राप्य है। शारदातनय ने 'शैलूष' की परिभाषा देते हुये कहा है कि नाट्य में जो उन रूपों को धारण कर विभिन्न स्वभाव वाले लोक के भावों का अनुसरण करता है वह शैलूष है।[2]

भाषा, वर्ण तथा उपकरण से विभिन्न प्रकृति से उत्पन्न वेश, अवस्था, कर्म और चेष्टा को धारण करने के कारण भरत कहा जाता है।[3] जो रस तथा भाव से युक्त

---

1. नाट्यकर्मप्रयोक्ता यः स तद्विद्भिरुदीर्यते।
   शैलूषो भरतो भावो नट इत्यादिनामभिः॥
   भावप्रकाशन 10/11.

2. नानाशीलस्य लोकस्य भावान् भासयतीह यः।
   भूमिकास्ता: प्रविश्यातः शैलूष इति कथ्यते॥
   भावप्रकाशन 10/11

3. भाषावर्णोपकरणैर्नानाप्रकृतिसम्भवम्।
   वेषं वयः कर्म चेष्टां रसभावसमन्वितम्॥
   भावप्रकाशन 10/12.

अतीत लोकवृत का स्वभाववत् अभिनय करता है, उसे नट कहते हैं ।[1]

वस्तुतः तीनों परिभाषायें एक ही भाव को अपने में समेटे हुये हैं । लोक-व्यवहार पर आधृत अपने अनुभवों के माध्यम से चतुर्विध अभिनयों के द्वारा नाट्यार्थ को प्रदर्शित करने वाला नट होता है । शारदातनय ने अभिनेता के गुणों का सूक्ष्मता से विवेचन किया है । उनके अनुसार नट को प्रेक्षकगत समस्त गुणों से युक्त होना चाहिये- "नाट्य में वह नट श्रेष्ठ होता है जो उपर्युक्त प्रेक्षकगत सभी गुणों से युक्त हो, अभिनय में निर्भीक हो, बाह्याभ्यन्तर चेष्टाओं का ज्ञाता हो, शिल्पविद्या में निपुण हो, नायकादि के भावों से तादात्म्यापत्ति ग्रहण करने वाला हो, चित्रविधित वर्णों को उनके मिश्रण तथा विभाग को जानने वाला हो ।[2]

यहाँ पर शारदातनय ने जो नट को प्रेक्षकगत गुणों से युक्त माना है, उसका तात्पर्य यह है कि नट को प्रेक्षक के समान सहृदय होना आवश्यक है । प्रेक्षक को उन्होंने "चतुरोऽभिनयस्य रसभावविवेचकः" अर्थात् चतुर, अभिनय का ज्ञाता एवं रसविवेचक, भाव-विवेचक होना आवश्यक माना है । शारदातनय के विचारों का अवलोकन करने पर अभिनेता यदि प्रेक्षक के समान सहृदय होगा, तभी वह रस एवं भाव के विवेचन में समर्थ होगा । अतएव वह अभिनय में अधिक कुशल होगा, क्योंकि नाट्यगत भावों को समझना एवं उन्हें भलीभाँति प्रदर्शित करना नट के लिये आवश्यक है । सहृदय के गुणों से युक्त नट में आलोचक के गुण भी वर्तमान होंगे, व तभी वह अभिनय की न्यूनताओं से भलीभाँति परिचित एवं उनके निवारण में समर्थ होगा ।

---

1 अतीतं लोकवृत्तान्तं रसभावसमन्वितम् ।
स्वभाववन्नाटयति यतस्तस्मान्नटः स्मृतः ।।

भावप्रकाशन 10/13.

2. एभिर्गुणैर्युतश्च प्रयोगे वीतसाध्वसः ।।
इङ्गिताकारचेष्टाज्ञो नानाप्रकृतिशीलवित् ।
शिल्पविन्नायकादीनां तादात्म्यापत्तिभावकः ।।
चित्रविचित्रवर्णैः तत्सङ्करविभागवित् ।
ईदृग्गुणविशिष्टस्तु नटो नाट्ये प्रशस्यते ।।

भावप्रकाश 8/41.

आचार्य भरत ने अभिनेता की कुछ न्यूनताओं की ओर संकेत किया है, जिनका निवारण अत्यावश्यक है, क्योंकि ये न्यूनतायें नाट्य की सिद्धि में घातक होती हैं। यथा-अभिनय में अस्वाभाविकता ।वैलक्ष्य।, ।अभिनेता का। अनपेक्षित रूप में हाथ-पैर पटकना ।अवेष्टित।, उपयुक्त भूमिका धारण न करना ।विभूमिकत्व।अभिनेता का कार्य करते समय स्मृति-नाश होना, दूसरे ही शब्दों का ।जो सम्वाद से अतिरिक्त हो।उच्चारण करना, ।अभिनेता का। क्लेश के कारण चिल्लाने लगना ।आर्तनाद।, उचित हस्त-चेष्टाओं की न्यूनता ।विहस्तत्व।, अतिशय हँसने या रोने लगना, स्वर बिगड़ जाना, सम्वाद उच्चारण में भजाना आदि ।[1]

आचार्य भरत ने नाट्य की सिद्धि में अस्वाभाविक अभिनय को अप्रतिकार्यघात कहा है। नाट्य का उद्देश्य रसानुभूति कराना है। अस्वाभाविक अभिनय रसानुभूति में घातक है। अभिनय को लोकव्यवहार के अतिनिकट होना चाहिये। अभिनय में इतनी अधिक स्वाभाविकता होनी चाहिये कि प्रेक्षक को उस अवस्था का स्मरण-मात्र न हो, अपितु जो वह देखता है वह अवस्था ही उसे सत्य प्रतीत हो, क्योंकि रस तत्कालापेक्षी होता है। भावानुस्मरण मात्र से रस की अनुभूति नहीं हो सकती है।

पाश्चात्य विद्वान् सोफिस्ट गोरजियास ने भी अनुकृति की इसी अर्थ में व्याख्या

---

1. पुनरात्मसमुत्था ये घातास्तांस्तान् प्रवक्ष्यामि ।।

नाट्यशास्त्र 27/23

वैलक्ष्यमवेष्टितविभूमिकत्वं स्मृतिप्रमोक्षश्च ।
अन्यवचनञ्च काव्यं तथार्तनादो विहस्तत्वम् ।।

नाट्यशास्त्र 27/24

अतिहसितरुदितविस्वर × × × × ×
अतिहसितरुदितानि सिद्धिबाधप्रमाणकरणानि ।।

नाट्यशास्त्र 27/25

की है । उनके अनुसार अनुकृति से तात्पर्य यह नहीं कि उसकी समानता के ज्ञान से अनुकृत मूल वस्तु की स्मृति सम्भव हो अपितु इस प्रकार का सर्वांङ्गीण प्रतिरूपण है कि दर्शक आकृति को प्रकृति-जनित मान ले ।[1]

भरतमुनि ने दूसरी न्यूनता अनपेक्षित रूप से हाथ पैर पटकना की ओर इंगित किया है । अर्थात् आङ्गिक - अभिनय की प्रचुरता से नाट्य निम्न कोटि का ही हो जाता है और यदि आङ्गिक - अभिनय का ज्ञान ही अभिनेता को न हो, तब नाट्य में प्रदर्शित उसकी चेष्टायें हास्यास्पद हो जायेंगी । शारदातनय ने भी इसी विचार को पुष्ट करते हुये कहा है कि अभिनेता को बाह्य एवं आभ्यन्तर चेष्टाओं का ज्ञाता होना चाहिये ।

उपयुक्त भूमिका धारण न करना अर्थात् अपने व्यक्तित्व के अनुकूल भूमिका को न ग्रहण करने पर भी अभिनेता की स्थिति शोचनीय हो जायेगी । यदि एक दुर्बल व्यक्ति को एक मोटे व्यक्ति की भूमिका दी जायेगी तब वह चाहे कितना भी कुशल अभिनेता क्यों न हो, नाट्यार्थ के सम्प्रेषण में समर्थ नहीं हो पायेगा । अतएव अभिनेता को अपने व्यक्तित्व के अनुकूल ही भूमिका ग्रहण करनी चाहिये, तभी वह कुशलतापूर्वक अपनी भूमिका को चरितार्थ कर पायेगा ।

अभिनेता के द्वारा अभिनय करते समय अपनी भूमिका के बारे में भूल जाना तथा उपयुक्त सम्वाद के स्थान पर अन्य शब्दों का उच्चारण उसमें प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति के अभाव का सूचक है । इस तथ्य की ओर इंगित करते हुये आचार्य भरत ने अभिनेता की बुद्धि की कुशाग्रता पर बल दिया है । अभिनेता की बुद्धि में तीक्ष्णता अनिवार्य तत्व है । अभिनेता की स्मरण-शक्ति तीव्र होनी चाहिये अन्यथा सम्वादों को अभिनय के समय भूल जाने पर रस-प्रतीति में महान् विघ्न उत्पन्न हो जायेगा ।

अभिनेता का क्लेश के कारण चिल्लाने लगना उसमें अभ्यास की कमी को संकेतित करता है । यदि अभिनेता में अभ्यास की कमी होगी तब वह क्लेश की अनुभूति करेगा।

---

1. रूपकरचनाशास्त्र ; द्वितीय भाग - डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, पृष्ठ 12 उद्धृत।

सम्पूर्ण रूप से अभ्यास करने पर अभिनेता किसी क्लेश का अनुभव किये बिना अपना अभिनय सम्पादित कर सकेगा ।

उचित हस्त-चेष्टाओं की न्यूनता अतिशय होना या होना अभिनेता की चतुर्विध-अभिनयों की अज्ञानता का सूचक है । स्वर का बिगड़ जाना वाचिकाभिनय का अज्ञान ही है । अतएव अभिनेता को चतुर्विध अभिनय का ज्ञान होना चाहिये तथा उनके प्रयोग में कुशल होना चाहिये । शारदातनय ने भी अभिनेता को चतुर तथा चतुर्विध अभिनय का ज्ञाता होना आवश्यक माना है । वाचिक अभिनय के अन्तर्गत अभिनेता को किन त्रुटियों से बचना चाहिये, इसका विवेचन भी आचार्य भरत ने प्रस्तुत किया है । पुनरुक्ति होना, गलत सामासिक प्रयोग करना, विभक्तियों में भूल हो जाना, (वाक्य में) सन्धि की अपेक्षा न करना, विसन्धि या उसकी प्रयोगहीनता, असङ्गत शब्दों का प्रयोग (अपार्थ), शब्दों का (तीन) लिङ्ग के अनुसार प्रयोग न होना, शब्दों के प्रत्यक्ष-परोक्ष सम्बन्ध का अज्ञान (प्रत्यक्षपरोक्षसम्मोह), छन्दोभङ्ग या छन्द के स्वरूप का परित्याग कर देना, गुरु तथा लघु वर्णों का अपेक्षित परिवर्तन तथा यतिभङ्ग होना ।[1]

इस प्रकार आचार्य भरत ने अतिमहत्वपूर्ण दोषों की ओर ध्यान दिया और उसका विवेचन प्रस्तुत किया । जो आज के परिप्रेक्ष्य में भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितना अपने समय में थे । परन्तु आधुनिक काल में बदलते हुए परिवेश के कारण प्राचीनकाल की कतिपय मान्यताओं में भी परिवर्तन आ गया है । संस्कृत-नाटकों की लोकग्राह्यता तभी हो सकती है, जबकि उनमें सन्धियों का प्रयोग कम हो । इससे वाक्य में स्पष्टता आती है तथा जनसामान्य में नाट्यार्थों का सम्प्रेषण उचित रूप में हो पाता है । अतः वर्तमान युग में भरतानुमोदित प्रस्तुत दोष, अब दोष नहीं रह गया है ।

आचार्य भरत ने आगे कहा है कि अभिनेता को सम्वाद में लजाना नहीं चाहिये अर्थात् अभिनेता का स्वभाव निर्भीक होना चाहिये । शारदातनय का भी यही मत है कि अभिनेता को अभिनय में निर्भीक होना चाहिये । अभिनेता में यदि आत्मविश्वास

---

1. नाट्यशास्त्र 27/29-30.

की कमी होगी तब स्वाभाविक है कि उसमें निर्भयता नहीं होगी । परिणाम स्वरूप उसमें अभिनय कौशल नहीं होगा । आत्मविश्वास और निर्भयता अभिनेता के आवश्यक गुण हैं । अन्यथा जनसमूह के समक्ष अभिनय करने में उसे सफलता नहीं मिल सकेगी ।

शारदातनय ने अभिनेता को विभिन्न प्रकार की प्रकृति एवं शील का ज्ञाता होना आवश्यक माना है । अभिनेता को लोक-व्यवहार का सूक्ष्मज्ञान होना आवश्यक है । संसार में अनेक प्रकार की सभ्यतायें तथा विभिन्न प्रकृति के लोग रहते हैं । अतः विभिन्न प्रकार के लोगों की प्रकृति एवं शील का ज्ञान होना अभिनेता के लिये अनिवार्य विषय है । लोक का सूक्ष्म ज्ञान रखने से अभिनेता किसी भी भूमिका को सफलता से अभिनीत कर सकेगा ।

शारदातनय के अनुसार नट अनुकार्य के भावों के साथ तादात्म्यापत्ति करता है । यह प्रश्न बहुत ही विवादास्पद है । कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि नट निर्विकार रूप से अभिनय करता है । कतिपय आचार्य यह मानते हैं कि नट भी हृदय में रसानुभूति करता हुआ अभिनय करता है ।

आचार्य उद्भट के अनुसार नट में रसभावादि का योग माना जाय तब मरणादि के अवसर पर नट में तज्जन्य उस शोकादि का आवेश और उसके बोलते समय लयादि का भङ्ग हो जाना चाहिये जो कि होता नहीं है । इसलिये नट में रसानुभूति भी वस्तुतः नहीं होती है ।[1]

किन्तु भट्टलोल्लट इस मत से सहमत नहीं हैं । उनके मतानुसार सहृदयों के समान वासना के आवेश के कारण नट में भी रस तथा भावों की अनुभूति सम्भव होने से नट को रसास्वादकर्ता मानना चाहिये और शिक्षा एवं अभ्यास आदि के अनुसन्धान के कारण रसानुभूति काल में भी लयादि का अनुसरण हो जाता है ।

---

1. अभिनवभारती भाग 1, षष्ठ अध्याय, पृ0 601,
   काशीहिन्दूविश्वविद्यालयसंस्करण ।

साहित्यदर्पणकार के अनुसार भला उस नट को रसास्वाद क्योंकर मिले । जो रंगमंच पर केवल अभिनय-कला की शिक्षा, उसके अभ्यास और उसमें कौशल प्रदर्शन से ही अपने आपको रामादि के रूप में दिखाया करता है ? किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि अभिनेता नट के हृदय में भी काव्यार्थभावना अथवा रसना उत्पन्न हो गई तब उसे उस अवस्था में नट नहीं अपितु एक सहृदय सामाजिक कहा जायेगा ।[1]

दशरूपककार के अनुसार नट की अभिनयकला तो सहृदय सामाजिकों के हृदयानुरञ्जन के लिये है । किन्तु यदि नट में रसिकता का समावेश हो जाय तब सहृदय सामाजिकों की भाँति उसे रस मिल जाय ।[2]

---

1. अभिनवभारती भाग 1, षष्ठ अध्याय, पृ0 601, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसंस्करण

(क) शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम् ।।
साहित्य-दर्पण 3/18.

(ख) दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत् ।
काव्यार्थभावेनायमपि सभ्यपदास्पदम् ।।
साहित्य-दर्पण 3/19.

(ग) यदि पुनर्नटोऽपि काव्यार्थभावनया रामादिस्वरूपतामात्मनो दर्शयेत् तदा सोऽपि सभ्यमध्य एव गण्यते ।
साहित्यदर्पण-तृतीय परिच्छेद, पृ0 127, वृत्तिभाग ।

2. काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ।
दशरूपक 4/42.

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवति तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत् काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते -

दशरूपकः चतुर्थप्रकाश (वृत्तिभाग) पृ0 347.

यदि आचार्य उद्भट का मत मानकर चलें, तब यह मानना होगा कि अभिनेता यन्त्रवत् अभिनय करता है। उसे किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती है। आचार्य विश्वनाथ एवं दशरूपककार ने इस प्रकार यह स्वीकार किया है कि अभिनेता को अभिनय करते समय यदि रसास्वादन होता है तब वह भी सहृदय सामाजिक हो जायगा।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या प्रेक्षक-नट की रसानुभूति समान स्तर की हो सकती है। प्रेक्षक की रसानुभूति एवं नट की रसानुभूति में पर्याप्त अन्तर है। नट की अपनी परिधि है। वह जिस भूमिका में उतरता है, उसे उसी में उस काल में आस्वादन हो सकता है। जबकि सहृदय के लिये ऐसी कोई सीमारेखा नहीं है। तथापि यदि सहृदय के गुणों को यदि नट के परिप्रेक्ष्य में विवेचित किया जाय, तभी यह ज्ञात हो सकता है कि वह नट के सन्दर्भ में कितने खरे उतरते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने सहृदय के हृदय में पूर्व से ही स्थित कुछ वासनागत संस्कारों की कल्पना की है। यह वासना सबमें होती है। अतः नट में भी होती है। ये ही वासनागत संस्कार स्थायीभाव कहलाते हैं। रसास्वादन के लिये अन्तराय शून्यता, वीतविघ्नता आवश्यक है। नट को अनुकार्य की भूमिका में उतरने के लिये अन्तरायशून्यता से युक्त होना ही पड़ता है। भूमिका में तन्मय हो जाने पर किसी प्रकार का विघ्न नहीं उपस्थित हो सकता है किन्तु साधारणीकरण रसास्वादन की मुख्य प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में सहृदय को प्रत्येक पक्ष समान रूप से आकर्षित करते हैं और सभी साधारणीकृत अवस्था में उपस्थित होते हैं, किन्तु नट जिस भूमिका में उतरता है उसी का आस्वादन कर सकता है। अतएव अभिनेता की स्थिति सहृदय से भिन्न है। अभिनेता अभिनय करते समय सहृदय की कोटि की रसानुभूति नहीं प्राप्त कर सकता है। यह सम्भव है कि वह जिस भूमिका में उतरता है उसमें तन्मय होकर साधारणीकृत विशेष पात्रगत रसानुभूति प्राप्त कर ले, किन्तु निश्चित रूप से यह रसानुभूति सहृदय कोटि की नहीं है।

आचार्य शारदातनय के अनुसार अभिनेता अनुकार्य के भावों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तभी अभिनय की पूर्णता को प्राप्त कर पाता है। शारदातनय

नट में रसानुभूति को स्वीकार करते हैं । शान्तरस का उल्लेख करते समय वे कहते हैं कि शान्तरस का अभिनय नहीं हो सकता है[1], क्योंकि इस अवस्था में नट में सभी प्रकार की चेष्टाओं का अभाव पाया जाता है । यदि नट में रसानुभूति का अभाव होता है तभी शान्त रस का अभिनय सम्भव होता । अतः शान्त रस नहीं होता ।

किन्तु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि रसानुभूति के समय दर्शक के समक्ष सभी पात्र साधारणीकृत रूप से उपस्थित होते हैं । किसी एक पात्र के भाव के साथ दर्शक का तादात्म्य नहीं होता है । किसी एक के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने पर तो वह अलौकिक आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकता है । शारदातनय ने जो यह प्रतिपादित किया है कि शान्त रस का अभिनय नहीं हो सकता है । इसका खण्डन पण्डित राजजगन्नाथ ने किया है । उनके अनुसार कुछ लोग कहते हैं कि शान्तरस की सिद्धि शम से हो सकती है, जो ।शान्ति। वैराग्य से सम्बन्ध रखता है और नट ठहरा सांसारिक जीव । अतः उसमें शान्ति की सम्भावना नहीं है । अतः नाटक में शान्त रस कैसे हो ।[2]

संस्कृत काव्यशास्त्र में सारा रसविवेचन सहृदय पर आधारित है, नट पर नहीं।

---

1. अस्थिरत्वादथैते स्युर्नाट्याद्यनुपयोगिनः ।।

× × × × × ×

विलीनसर्वव्यापारः शमः स्थायी भवेद्यतः ।।

अतोऽनुभावराहित्यान्न नाट्येऽभिनयो भवेत् ।

विलीनसर्वव्यापारः शमः स्थायी भवेद्यतः ।।

भावप्रकाशन 1/164

2. शान्तरसस्थायिशमस्य नटेसहृदये सम्भवान्नाट्ये शान्तातिरिक्तता स्याऽष्टौ सा इति पूर्वपक्षस्य सारम् ।

रसगङ्गाधर, प्रथम आनन, पृ0 132.

।चन्द्रिका।

इसी बात का आश्रय लेकर पण्डितराज खण्डन करते हैं कि सर्वप्रथम तो 'नट में शान्तरस की सम्भावना नहीं है' यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि नट में रस की अभिव्यक्ति अमान्य है। तब उसकी शान्ति अथवा अशान्ति से हमें क्या लेना-देना ?[1]

शमविहीन नट शान्तरस के अभिनयों को प्रकाशित नहीं कर सकता। इस तर्क का खण्डन करते हुये पण्डितराज कहते हैं कि यह सर्वमान्य तथ्य है कि नट, भयानक एवं रौद्र-रस की अभिव्यक्ति के लिये अभिनय करता है, किन्तु शान्तरसविरोधक कतिपय आचार्यों द्वारा स्वीकृत यह तर्क कि नट शान्तरस का अभिनय नहीं कर सकता, मानने पर वह भी असंगत हो जायेगा। नट में जिस प्रकार वास्तविक शान्ति नहीं रहती उसी प्रकार वास्तविक भय और क्रोध भी नहीं रहते, अतः इस कारण से यदि शान्तरस के अभिनय का अधिकारी अभिनेता नहीं होगा तब भयानक और रौद्ररस के अभिनय का अधिकारी न होना भी उसके लिये उचित है।[2]

इसके प्रत्युत्तर में कि नट में क्रोधादि नहीं वर्तमान रहता है, अतएव क्रोधादि के वास्तविक कार्य वधबन्धन आदि की शिक्षा और अभ्यासादि से उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं होती, वे कहते हैं कि यहाँ पर भी उसी प्रकार होता है, अर्थात् वास्तविक

---

1. यदुच्यते नटे शमासम्भवो न तु सामाजिके। 'नटे तु यतः कश्चिदन्न न रसं स्वदते नटः' इत्युक्तेर्नटे रसास्वादाभावः सहृदयत्वमेव हि रसास्वादकतावच्छेदकं न तु नटत्वम्।

रसगङ्गाधर, प्रथम आनन, पूर्वोक्तभाग, पृ० 132.
(-चन्द्रिका)

2. यद्यपि नटे वास्तविकः कोऽपि स्थायी न तिष्ठति तथापि शिक्षाभ्यासादिबलेन तदभिनयः सोऽनुतिष्ठतीति वस्तुस्थितौ, नटे शमस्य विरहेऽपि तदभिनयानुष्ठाने नासङ्गतिः अन्यथा नटे रौद्रस्थायिक्रोधस्य भयानकस्थायिभयस्य चासत्वात्तदभिनयानुष्ठानस्याप्यसङ्गत्यापत्तिरित्युत्तरम्।

रसगङ्गाधर, प्रथम आनन, पूर्वोक्तभाग, पृ० 132.
(-चन्द्रिका)

श्रम के अभाव में वास्तविक श्रम कार्य शरीर में अनास्थादि के न होने पर भी शिक्षादि से नट के बनावटी श्रम आदि कार्यों को दिखा सकता है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य भरत ने इसलिये नट को सहृदयता से युक्त होना बताया है, जिससे नट रस एवं भाव का विवेचन भलीभाँति कर सके। अभिनय में उसका उपयोग करे न कि वह स्वयं सहृदय की भाँति रसानुभूति करे। सहृदय की भाँति यदि नट भी रंगमंच पर रसानुभूति करने लगेगा, तब अभिनय-प्रक्रिया में अवश्य ही बाधा आवेगी, क्योंकि अभिनय-कर्म में चित्त का सावधान होना परमावश्यक है। अतः अभिनय करते समय नट को भी सहृदय की भाँति रसानुभूति होती है, यह तथ्य अभिनयकर्म की जटिलता को दृष्टिपथ में रखने के कारण सर्वथा अस्वीकरणीय है।

अभिनेता को चतुर्विध अभिनयों का पूर्ण ज्ञान होने के साथ-साथ बौद्धिक ज्ञान अर्थात् लोकपरम्परा का ज्ञान एवं सहृदयता से युक्त होना आवश्यक है।

अतः यह स्पष्ट है कि अभिनेता अनुकरण तो करता है, किन्तु लोक-वृत्त का ही अनुकरण करता है अर्थात् समाज में देखी गई क्रियायें उसके अवचेतन मन में पड़ी रहती हैं। उन्हीं अनुभवों को ही वह अभिनय में प्रयुक्त करता है। स्पष्ट है कि अभिनय ~~में प्रयुक्त करता है~~

---

1. नटे वास्तवस्य क्रोधादेरभावाद्वास्तवानि क्रोधादिकार्याणि यद्यपि नोत्पत्तुं सम्भवन्ति, किन्त्ववास्तवक्रोधादीनां सत्त्वादवास्तवानि तत्कार्याणि गर्जनतर्जनादीनि शिक्षाभ्यासादिबलाद् बाधकवैधुर्यात् कथं नोत्पद्येरन्निति दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमाशङ्क्यते चेत् तर्हि नटेऽपि वास्तवश्रमाभावेन वास्तवश्रमकार्याणां सकलतृष्णाविरामादीनामुत्पत्तेरभावेऽपि कल्पितश्रमकार्याणामक्षिनिमीलनादीनां शिक्षाभ्यासादिबलादुत्पत्तिबोधकाभावात् कथं न स्यादुभयोर्वैषम्यविरहादित्याशयः।

– रसगङ्गाधर, प्रथम आनन, (भूमिका), पृ0 132.
(चन्द्रिका)

में मात्र अनुकरण की ही आवश्यकता नहीं होती, अपितु परम्परागत ज्ञान (ऐतिहासिक पात्रों के लिये) लौकिक व्यवहार के अनुभव तथा उनका अनुकरण आवश्यक है । इन सबका समन्वय अभिनय में साधारणीकृत हो उठता है । इसीलिये नाट्य के द्वारा अभिव्यक्त अर्थ व्यक्तिसम्बद्ध न होकर साधारणीभूत रूप में दर्शक में व्याप्त हो जाता है ।

अभिनय की उत्पत्ति

अभिनय की उत्पत्ति सृष्टि के प्रारम्भ से ही हुई होगी, जब मनुष्य ने अपने मनोगत भावों को अन्य के सम्मुख प्रकट करने की चेष्टा की होगी तभी अभिनय का सूत्रपात हुआ होगा । इसीलिये सबसे प्राचीन और प्रामाणिक वाङ्मय वेद में अभिनय के बीज प्राप्त होते हैं । आचार्य भरत ने नाट्य की उत्पत्ति के प्रसंग में यह प्रतिपादित किया है कि नाट्य के चार तत्त्व पाठ्य, अभिनय, संगीत और रस क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से लिये गये हैं ।[1]

अभिनय-तत्त्व यजुर्वेद से लिया गया है । यजुर्वेद में मुख्यतः याज्ञिक-विधान तथा धार्मिक क्रियाकलापों का वर्णन है । अभिनय-कला का उद्गम यजुर्वेद से ही हुआ है । वैसे तो ऋग्वेद के सम्वादसूक्त में वाचिक अभिनय का रूप देखने को मिल जाता है । ऐसे सम्वादसूक्त प्रमुख हैं - यम-यमी सूक्त (ऋ0 10-10), पुरूरवा-उर्वशीसूक्त (ऋ0 10-95), सरमापणिसम्वाद (ऋ0 10-108), विश्वामित्रनदीसम्वाद (ऋ0 3,33), इन्द्रइन्द्राणीवृषाकपिसम्वाद (ऋ0 10-86), अगस्त्यलोपामुद्रासम्वाद (ऋ0 1791).

आङ्गिक, सात्त्विक एवं आहार्यादि अभिनय के अंश यजुर्वेद के ही मन्त्रों में प्राप्य हैं । यज्ञ के अनुष्ठान के समय ऋत्विग्गण देवताओं को प्रसन्न करने के लिये उनके चरित्रों

---

1. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
   यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।
   ना0शा0 1, 17.

का अभिनय करके उसको मूर्तरूप में प्रस्तुत करके दिखाते थे ।

याज्ञिक एवं धार्मिक अनुष्ठानों की क्रियाओं को प्रदर्शित करने के लिये उनको विभिन्न प्रकार की आङ्गिक चेष्टाओं के द्वारा व्यक्त किया जाता था । वर्तमान चतुर्विध अभिनयों का विकास इन्हीं भावों, आङ्गिक चेष्टाओं एवं सङ्केतों पर हुआ । यजुर्वेद के पाठ में स्वरों के अनुसार हस्तसञ्चालन होता है । अभिनय तथा अभिनेता इत्यादि से सम्बद्ध अनेक शब्द यजुर्वेद में मिलते हैं ।

आहार्य अभिनय की दृष्टि से यजुर्वेद का सोलहवाँ अध्याय विशेष द्रष्टव्य है। इसमें आहार्य से सम्बन्धित अनेक शब्द प्राप्य हैं, जैसे-उष्णीषिन् (पगड़ी बाँधना), कपर्दिन (जटाजूटधारी), व्युप्तकेश (मुण्डित), कृत्तिवसान (मृगचर्मधारी), पिनाकविभृत (धनुर्धारी), विशिखास: (मुण्डित), नीलग्रीव (नीली गर्दन वाला), शितिकण्ठ (काली गर्दन युक्त), निषङ्गिण: (खड्गधारी), विलोहिता (लाल रङ्ग वाला) आदि ।

अभिनय की उत्पत्ति के प्रसंग में यहाँ उसके प्रथम प्रयोग पर भी विचार करना आवश्यक है । आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के पश्चात् अभिनय की घटक सामग्री पात्र, नाट्यवृत्तियाँ आदि पर भी प्रकाश डाला है । जिससे पूर्वोद्भूत तत्त्वों के साथ मिलकर इन्द्रध्वज महोत्सव में प्रथम नाट्याभिनय हुआ । इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्रथम बार नाट्याभिनय के उपस्थापन के लिये इतनी सामग्री की आवश्यकता हुई तभी यह सम्भव हो पाया । अतः अभिनय एक ऐसा व्यापक प्रायोगिक तत्त्व है, जो इतनी अधिक घटक सामग्रियों के उपस्थित होने पर ही जन्म लेता है ।

अभिनयप्रक्रिया एवं रस

नाट्यशास्त्र में किया गया सारा रसविवेचन नाट्यपरक है । नाट्य अभिनीत होकर ही प्राणवत्ता को प्राप्त करता है । अतएव रस की सिद्धि में अभिनय का महत्त्वपूर्ण योगदान है । यदि हम रसनिष्पत्ति में सहायक सामग्री पर दृष्टिपात करें तब अभिनय का महत्त्व स्वयमेव स्पष्ट हो जायेगा । भरतमुनि के रसनिष्पत्ति से सम्बन्धित सूत्र में रस-सामग्री का स्पष्ट उल्लेख है "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"

अर्थात् विभावानुभाव एवं सञ्चारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। अभिनय के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिये सहायक सामग्री का अलग-अलग विवेचन अपेक्षित है। विभावानुभाव और व्यभिचारी के संयोग से स्थायिभाव रसरूप में निष्पन्न होता है। जिस प्रकार मिट्टी में पूर्व विद्यमान गन्ध जल का संयोग पाकर प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार स्थायिभाव भी विभावानुभाव और सञ्चारी के संयोग से व्यक्त होने पर रसनाम से पुकारे जाते हैं।[1]

स्थायिभाव निसर्गतया सहृदय के हृदय में वर्तमान होते हैं।[2] अतः रस के अन्य अङ्गों से उद्बुद्ध होकर रसानुभूति में सहायक होते हैं। अभिनय के विषयभूत इन अन्य अङ्गों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि रसोद्बोधन में अभिनय की प्रमुख भूमिका है।

<u>विभाव</u>

चतुर्विध अभिनयों के माध्यम से चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से ज्ञापन कराने वाले हेतु विभाव कहलाते हैं।[3] स्थायी एवं व्यभिचारी चित्तवृत्तियाँ अथवा रस को

---

1. व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ।।
   काव्यप्रकाश 4/28.

2. ---------------- साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि ------------।
   काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ0 129.

3. बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।
   अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ।।

   ना0शा0 7/4.

निःशेष रूप से अर्पित करने के कारण इन्हें विभाव कहा जाता है ।[1] विभाव वासना-रूप में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अवस्थित रत्यादि स्थायी भावों को आस्वाद योग्य बनाते हैं ।[2] चित्तवृत्ति के उद्बोधक विभाव के दो भेद बताये गये हैं ।1। आलम्बन एवं ।2। उद्दीपन ।[2] नाटकादि में वर्णित जिन पात्रों का आलम्बन करके सामाजिक के रत्यादि स्थायिभाव रस रूप में अभिव्यक्त होते हैं उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं । 'आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् अर्थात् अभिनेता ही रसास्वादन प्रक्रिया का प्रथम सोपान' है । चित्तवृत्ति विशेष के विषय-भूत विभाव को आलम्बन कहते हैं जिससे जाग्रतभाव अधिकाधिक उद्दीप्त होता है, उद्दीपन विभाव कहलाता है । आलम्बन विभाव के दो भेद होते हैं - ।1। विषय एवं ।2। आश्रय । जिस व्यक्ति में स्थायी-भाव जाग्रत होते हैं, वह आश्रय कहलाता है और जिस व्यक्ति के प्रति जाग्रत होते हैं वह आलम्बनविभाव कहलाता है । आलम्बन के हावभाव इत्यादि उद्दीपन विभाव में परिगणित होते हैं ।

अतः नाट्य में नट ही अनुकार्य की वेशभूषा को धारण करके विभाव के रूप में प्रस्तुत होता है इसीलिये आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनय को अनुव्यवसायात्मक व्यापार माना है । नाट्यानुभूति की प्रक्रिया का निरूपण करते समय उन्होंने स्पष्ट किया है कि 'आहार्यविशेष अर्थात् वेशभूषा विशेष प्रकार की वेशभूषा के कारण देशकाल और नट के प्रत्यक्ष की निवृत्ति हो जाती है । योगदर्शन के 'विशेषावधारणप्रधानावृत्तिः प्रत्यक्षम्' इस प्रत्यक्ष लक्षण के अनुसार बिना विशेष के सम्पर्क के प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति के

---

1. वागाद्यभिनयसहिताः स्थायिव्यभिचारिलक्षणाः चित्तवृत्तयो
   विभाव्यन्ते विशिष्टतया ज्ञायन्ते - यैः ते विभावाः ।
   काव्यानुशासन, पृ0 88.

2. यस्याश्चित्तवृत्तेः यो विषयः स तस्या आलम्बनम् ।
   निमित्तानि च उद्दीपकानि इति बोध्यते ।।
   रसगङ्गाधर, पृ0 33.

असम्भव होने से उस स्थल पर रामादि के प्रत्यक्षाभिमान की प्राप्ति होती है । प्रसिद्धार्थक-आदरणीयचरितवाचक रामादि के शब्द के प्रयोग से असम्भावना मात्र के निराकरण हो जाने के कारण उस अनुव्यवसायात्मक ज्ञान में प्रत्यक्ष कल्पना की उत्पत्ति प्रस्तावनाकालीन नटज्ञानसहकृत चतुर्विध अभिनय के द्वारा उसके स्वरूप का आच्छादन हो जाता है ।[1] इस प्रकार नट ही विभावादि के रूप में दर्शकों को प्रतीत होता है ।

<u>अनुभाव</u>

अनुभाव के शाब्दिक अर्थ के अनुसार आङ्गिक वाचिक अभिनय की चेष्टाओं का सङ्केत मिलता है । जो आश्रय के हृदय में वर्तमान भावों के व्यक्त बाह्य रूप होती हैं तथा सहृदय को उस भावविशेष का भावन कराती हैं ।[2] कटाक्ष तथा भ्रूक्षेपादि को अनुभाव माना गया है ।

आचार्य भरत ने अनुभाव के वाचिक, आङ्गिक तथा सात्त्विक नामक तीन भेद बताये हैं । भानुदत्त ने आहार्य को भी परिगणित किया है ।[3] रत्यादि भावों को प्रकाशित करने वाली आश्रय की बाह्य-चेष्टायें अनुभाव कहलाती हैं ।

ये अनुभाव के चार रूप वस्तुतः अभिनय के ही चार रूप हैं । अतएव सात्त्विक, वाचिक, आङ्गिक एवं आहार्य इन चारों प्रकार के अभिनयों का संवलित रूप ही अनुभाव है । इसके चारों भेद इस प्रकार हैं :

1. आङ्गिक अर्थात् शरीरसम्बन्धी चेष्टायें आङ्गिक अनुभाव हैं ।

---

1. अभिनवभारती-भाग-1, प्रथम अध्याय, पृष्ठ 121-123,
   काशीहिन्दूविश्वविद्यालयसंस्करण ।

2. नाट्यशास्त्र 7/5

3. रसतरङ्गिणी, पृ0 49.

2. वाग्व्यापार आंगिक अनुभाव है ।

3. वेशभूषा एवं अलङ्करण आहार्य नामक अनुभाव हैं ।

4. सत्त्व के योग से उत्पन्न चेष्टायें सात्त्विक अनुभाव हैं । अतः यह स्पष्ट है कि रस की निष्पत्ति में सहायक अनुभाव नामक रसघटकतत्त्व अभिनय ही है ।

व्यभिचारी-भाव

अस्थिर मनोविकार या चित्तवृत्तियाँ जो स्थायीभावों की सहकारी कारण हैं । उन्हें रसावस्था तक ले जाती हैं, पर स्वयं तरङ्गवत् आविर्भूत एवं तिरोभूत होती हैं ।[1] बिना अभिनीत हुये इन मनोविकारों का दर्शकों द्वारा अनुभव असम्भव ही है । अतएव अभिनय का यहाँ भी प्राधान्य है ।

सात्त्विकभाव

आचार्य भरत ने सात्त्विक भावों की गणना करते समय उनगत भावों में स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय नामक आठ भावों को पृथक् रूप से सात्त्विक बताया है । सत्त्व मन के आत्यन्तिक सम्बन्ध से उत्पन्न होता है ।[2] अर्थात् सात्त्विक भावों के अभिनय में कौशल प्राप्त कर लेने वाला नट श्रेष्ठकोटि का अभिनेता होता है । अतः सात्त्विकभावों का अभिनय कुशल अभिनेता द्वारा ही किया जा सकता है । अभिनय की सूक्ष्मता की परख सात्त्विक भावों के अभिनय में ही होती है । अतः अभिनय की दृष्टि से रससामग्री के अङ्गों में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सात्त्विक-भाव ही है और इन भावों पर आधारित अभिनय - सात्त्विकाभिनय नाट्यशास्त्रीय विषयों में सूक्ष्मतम विवेच्य विषय है ।

---

1. नाट्यशास्त्र सप्तम-अध्याय, 27 श्लोक के पश्चात् का वृत्तिभाग ।

2. नाट्यशास्त्र सप्तम-अध्याय, 93 श्लोक के पश्चात् का वृत्तिभाग ।

अतएव नाट्य से सम्बन्धित रस अधिकांशतया अभिनय पर ही आधारित होता है । इसीलिये भरत रसों का विवेचन करते समय भी विभिन्न भावों का विवेचन करते चलते हैं । नाट्यगत प्रत्येक अर्थ अपने प्रकाशन के लिये अभिनय पर ही आश्रित है । बिना प्रस्तुतीकरण के नाट्य-रस की अनुभूति असम्भव है । अतः प्रयोगधर्मी काव्यविधा नाट्य अपने प्रस्तुतीकरण में समग्रतया अभिनय पर ही आश्रित है । अभिनय ही नाट्य का एक परिपूर्ण प्राणतत्त्व है ।

--------::0::--------

द्वितीय अध्याय

तात्त्विक-भाव-विवेचन

अन्य अभिनय-प्रभेदों की अपेक्षा सात्त्विक अभिनय का विशेष महत्त्व है। आचार्य भरत ने सत्त्वातिरिक्तता से युक्त अभिनय को ही श्रेष्ठ माना है।[1] आहार्य, वाचिक तथा आंगिक अभिनयों की तुलना में सात्त्विक-अभिनय के सामान्य मात्रा में रहने पर मध्यम कोटि का अभिनय तथा सात्त्विक अभिनय का अन्य अभिनयों की तुलना में न्यून रहने पर अधम कोटि का अभिनय तथा सात्त्विक-अभिनय का अन्य अभिनयों की तुलना में अधिक होने पर उच्च कोटि का अभिनय होता है।[2]

सात्त्विक अभिनय का अन्य अभिनयों की तुलना में महत्त्वपूर्ण होने पर कारण इसका अन्तःकरण की सूक्ष्म मनोवृत्ति को अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम होना है। आन्तरिक भावों का प्रकटीकरण जितना अधिक सात्त्विक भावों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, अन्य अभिनय-प्रभेदों के माध्यम से नहीं। अतएव सात्त्विक-अभिनय अन्य अभिनयों की अपेक्षा अधिक प्रयत्न-साध्य है। भाव ही क्रमिक रूप से विकसित होकर रस दशा को प्राप्त होते हैं। अतः सात्त्विक-अभिनय के परिप्रेक्ष्य में सात्त्विक-भाव की चर्चा आवश्यक है। आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार रस का अन्तरंग सात्त्विक है। यह बिना यथेष्ट प्रयत्न के सिद्ध नहीं होता है।

<u>सात्त्विक-भाव-विवेचन : संस्कृत आचार्यों का मत</u>

भरत मुनि ने भावों की गणना करते समय 49 भावों में 8 सात्त्विक भावों को स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय की गणना पृथक् रूप से की है। सात्त्विक भावों के स्वरूप के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् इन्हें नितान्त मानसिक मानते हैं, कुछ नितान्त शारीरिक। कतिपय विद्वान् अनुभाव मानते हैं और कतिपय व्यभिचारी। सात्त्विक शब्द सत्त्वशब्द से तद्धितान्त ठञ् प्रत्यय

---

1. तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यं सत्त्वे प्रतिष्ठितम् ॥ नाट्यशास्त्र 24/1.

2. सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते ।
   समसत्त्वो भवेन्मध्यः सत्त्वहीनोऽधमः स्मृतः ॥ नाट्यशास्त्र 24/2.

करके बना है । सत्व से उत्पन्न होने वाला भाव सात्त्विक-भाव है ।[1]

आचार्य भरत के अनुसार 'सत्व' मन के आन्तरिक सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं । मन की एकाग्रता से सत्वादि की उत्पत्ति होती है । इसका जो रोमांच, अश्रु तथा वैवर्ण्य आदि से युक्त स्वरूप है उसका अनुकरण अन्यमनस्क भाव से नहीं हो सकता है ।[2] यथा नाट्य-प्रयोग के समय नाट्य-धर्म में प्रवृत्त सुख-दुःख के भावों को इस प्रकार बतलाना चाहिये कि वे यथार्थ-स्वरूप वाले प्रतीत होने लगें । रोदनात्मक भाव दुःख कहलाता है, किन्तु जिस मनुष्य ने कभी दुःख का अनुभव न किया हो ऐसा सुखी प्रयोक्ता तथा प्रहर्षात्मक सुख को दुःखी प्रयोक्ता कैसे अभिनीत कर सकेगा । इस सम्बन्ध में यही सत्य है कि अभिनेता सुखी हो या दुःखी हो उसे रोमांच या अश्रु को अभिनय द्वारा प्रस्तुत होता है ।

आचार्य भरत के उपर्युक्त मत का अवलोकन करने पर इस तथ्य की पुष्टि होती है कि सात्त्विक-भावों को अभिनीत करते समय अभिनेता को अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है । अन्य अभिनय यथा आंगिक, वाचिक एवं आहार्य अभिनयों को यन्त्रवत् प्रस्तुत किया जा सकता है । इनमें मन की एकाग्रता की अधिक आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु अभिनीयमान भूमिका में अपने को समाहित करने के बाद ही सात्त्विक

---

1. सात्त्विकः त्रि, सत्वेन निर्वृत्तः तेन निर्वृत्तमिति ठञ् सत्वगुणनिष्पादितः ।
   शब्द-कल्पद्रुम (पञ्चम कांड)

2. अत्राह-किमन्ये भावाः सत्वेन विनाऽभिनीयन्ते यस्मादुच्यन्ते एते सात्त्विका इति ? अत्रोच्यते-एवमेतत् । कस्मात् ? इह हि सत्वं नाम मनः प्रभवम् । तच्च समाहित-मनस्त्वादुच्यते । मनसः समाधौ सत्वनिष्पत्तिर्भवति । तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्रुवैवर्ण्यादिलक्षणो यथाभावोपगतः स न शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्वमीप्सितम् ।

   नाट्यशास्त्र, अध्याय 7,
   पृष्ठ 429, वृत्तिभाग ।

भावों के अभिनय में सफलता प्राप्त की जा सकती है । यह आवश्यक नहीं कि दुःखात्मक या सुखात्मक भावों के प्रकटीकरण के समय नट की मनःस्थिति उसी तरह रहे, किन्तु नट को अपने आपको उसी तरह की मनःस्थिति में उतारना पड़ता है, जो अपने आप में एक अत्यन्त कठिन कार्य है, जो सभी के द्वारा सम्भव नहीं हो सकता है । यह केवल कुशल नट के द्वारा ही सम्पादित किया जा सकता है । इसीलिये भरत ने सात्त्विक अभिनय की प्रचुरता से युक्त अभिनय को ही श्रेष्ठ कहा है ।

सिंहभूपाल तथा शारदातनय के अनुसार सभी भाव सत्त्वज होते हैं ।[1] इसलिये सभी भावों को सत्त्वज कहा जा सकता है, किन्तु इनका सत्त्व मात्र से सम्बन्ध है । अतः इन आठ भावों की पृथक् गणना की गई है ।

शारदातनय ने सात्त्विक भावों की व्याख्या इस प्रकार की है कि मन सत्त्व का आश्रय लेकर बुद्धि को आविष्ट कर प्रत्येक इन्द्रिय-गोचर विषयों का स्वभावतः अनुभव करता है । सत्त्व, बुद्धि, ज्ञान तथा आनन्द भेद से तीन प्रकार का होता है । दूसरे लोगों के दुःखादि के सेवन से भावक के चित्त का परगत दुःखादि भावों से भावित होना सत्त्व कहलाता है । इनके अनुसार मन का सत्त्व यही है कि जब वह दुःखी या हर्षित होता है तो अश्रु रोमांचादि निकल पड़ते हैं । ये अश्रु रोमांचादि सत्त्व से निर्वृत्त होते हैं, अतएव सात्त्विक कहलाते हैं ।[2]

यहाँ पर शारदातनय ने सत्त्व के लिये जो यह आवश्यक माना है कि दूसरों के हृदयगत भावों से भावित होना ही सत्त्व है, मूलतः सामाजिक की दृष्टि से कहा गया है । नट की दृष्टि से देखा जाय तो इसका तात्पर्य होगा कि अभिनेता अपनी भूमिका

---

1. सर्वेऽपि सत्त्वमूलत्वाद् भावाः यद्यपि सात्त्विकाः ।
   तथाप्यमीषां सत्त्वैकमूलत्वाद् सात्त्विकप्रथा ।। - रसार्णवसुधाकर 1/310.

2. मनस्सत्त्वमधिष्ठाय तत्तदिन्द्रियगोचरान् ।
   बुद्धिमाविश्य विषयाननुभुङ्क्ते स्वभावतः ॥
   त्रिधासत्त्वं भवेद् बुद्धिज्ञानानन्दविभेदतः ।
   तद्भावभावनात्मा स्यात्परस्थदुःखादिसेवया
   तद्भावभावनं येन भवेत्सत्त्वमुदाहृतः । भाव-प्रकाशन 1/100.

के भावों को पूरी तरह से मन पर ग्रहण कर ले कि वे भाव उसे अपने ही प्रतीत हों, किसी अन्य के नहीं। आगे जब वे यह कहते हैं कि मन का सत्त्व यह है कि वह हर्षित या दुःखी होता है तो हर्ष, रोमांचादि निकल पड़ते हैं, इससे उनका तात्पर्य नट की मन की एकाग्रता से प्रतीत होता है। नट का मन भावों के अनुरूप जब एकदम अनुकूल हो जायेगा तो स्वतः उसके अभिनय में स्वाभाविकता आ जायेगी। सहृदय एवं नट के सत्त्व में व्यापक अन्तर है। सहृदय की भाँति नट दूसरे के भावों से प्रत्यक्षतः एकतान नहीं होता है। उसके लिये नट को अधिक प्रयत्न, प्रज्ञा, कल्पना एवं तन्मयता की आवश्यकता होती है। शारदातनय ने इनमें सामान्यतः अनुभावत्व स्वीकारा है।[1] अन्य कई आचार्यों ने भी अनुभावत्व स्वीकार किया है। आचार्य धनंजय एवं धनिक ने सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण इन्हें सात्त्विक माना है। सत्त्व से तात्पर्य है किसी भाव से भावित होना अर्थात् अभिनेता सत्त्व के आधार पर ही पात्रगत सुख-दुःखादि की भावना में अन्तःकरण को तन्मय कर देता है तभी वह रोमांचादि, अश्रुमोचनादि करता है। उसके अश्रुमोचनादि सात्त्विक-भावों से उत्पन्न होने के कारण ये भाव सात्त्विक कहलाते हैं। इनकी दृष्टि का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इन आचार्यों का मत शारदातनय के मत के अधिक समीप है। इन्होंने भी सात्त्विक भावों में अनुभावत्व स्वीकार किया है, क्योंकि ये अनुभावों के समान ही हृदय में स्थित हर्ष-दुःखादि भावों के विकार होते हैं और इसकी सूचना देते हैं।[2]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार सत्त्व से अभिप्राय अन्तःकरण के धर्म-विशेष से है जिसके कारण हृदय में वासना रूप से विद्यमान रत्यादि भावों का उद्बोधन हुआ करता

---

1. अनुभावत्वसामान्ये सत्त्वप्येषां पृथक्तया-भावप्रकाशन 1/100.

(क) पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः।

2. सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् - दशरूपक 4/4.

है ।[1] आचार्य विश्वनाथ ने अन्य आचार्यों से परे हटकर सत्त्व की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है । यदि सात्त्विक-भावों में अनुभावत्व को न स्वीकार किया जाता तब सात्त्विक-भाव की व्याख्या सहृदयपरक हो जाती[2], क्योंकि तब सात्त्विक भावों से तात्पर्य चित्तवृत्तिविशेष ही होता जिसके द्वारा रत्यादि स्थायी भावों का अन्तः-करण में उद्बोधन मात्र होता, जो कि आवश्यक नहीं कि नट में हो, किन्तु अनुभावत्व को स्वीकार करने के कारण आचार्य विश्वनाथ ने सात्त्विक भावों के क्रियात्मक पक्ष को स्वीकार किया है । उनके अनुसार सात्त्विक और अनुभाव यद्यपि एक ही रूप के हैं, चूँकि सात्त्विक-भाव सत्त्व के उद्रेक से उत्पन्न होते हैं अतः सात्त्विक कहलाते हैं । जबकि इन भावों की अनुभूति अनुभावों के माध्यम से ही होती है । अतएव गोबलीवर्दन्याय से इन्हें अनुभाव भी कह सकते हैं । अर्थात् 'गावः गच्छन्ति' कहने से 'बलीवर्दोऽपि गच्छति' का तात्पर्य भी निकल आता है, किन्तु गौओं की विशिष्टता को स्पष्ट करने के लिये बलीवर्द का पृथक् ग्रहण किया जाता है । तथावत् अनुभावों में सात्त्विक भावों के अन्तर्भूत होने पर भी सात्त्विक भावों की गणना पृथक् की गई है ।

इन आचार्यों के सात्त्विक-भाव-विषयक विचारों के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि सात्त्विक-भावों के विषय में इनके विचार एकांगिक नहीं है अर्थात् इन्होंने सात्त्विक

---

1. परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तः करणत्वं सत्त्वं यदाह 'सत्त्वं नाम मनः प्रभवम् तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते । एतदेवास्य सत्त्वं यतः खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते । तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विकास्त एव भावास्तत उत्पाद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावाः । भावसंसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम् इति ।

– दशरूपक, चतुर्थ-प्रकाश, पृष्ठ 265.

2. विकाराः सत्त्वसम्भूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ।

– साहित्यदर्पण 3/134.

भावों को मात्र श्रव्य-काव्य से सम्बन्धित आन्तरिक चित्तवृत्तियाँ न मानकर दृश्य-काव्य से सम्बन्धित सात्त्विक भावों की अभिनेयता पर भी चिन्तन किया है। इसीलिये इन्होंने सात्त्विक-भावों को प्रकारान्तर से अनुभाव भी माना है क्योंकि वे अनुभावों की भाँति ही आश्रय के ही विकार हैं।

नाट्य-दर्पणकार[1] ने भी सात्त्विक को मनःप्रभव मानते हुये भी उनमें अनुभावत्व को स्वीकार किया है। इनकी इस विचारधारा का कारण उनका नाट्यशास्त्री होना ही है। सात्त्विक-भावों की यही विशेषता इनके अभिनय को अन्य अभिनयों से पार्थक्य प्रदान कर विशिष्ट बनाती है। अवहित मन ही सत्त्व है और उसके प्रयोजन का हेतु सात्त्विक कहलाता है। नाट्यदर्पणकार ने इस प्रकार सात्त्विक भावों को आन्तरिक माना है, क्योंकि वे आगे कहते हैं कि मन की असावधानता होने पर नट सात्त्विक भावों को प्रकाशित नहीं कर सकता है। दूसरी ओर अनुभाव के रूप में उल्लेख किया है जो कि सात्त्विक-भावों के देहज स्वरूप की स्वीकृति है। सात्त्विक का यह स्वरूप अभिनय को दृष्टि में रखकर ही सम्पादित किया गया है। सात्त्विक भावों के अनु-भाव-स्वरूप में स्वीकार न करके इनके मनोशारीरिक स्वरूप को ही स्वीकार किया जा सकता है।

---

1. सात्त्विकः स्वरभेदादेरनुभावस्य दर्शनम्। अवहितं मनः सत्त्वं तत् प्रयोजनं हेतुरस्येति सात्त्विकः। मनोऽनवधाने हि न शक्यन्त एव स्वरभेदादयो नटेन दर्शयितुम् आदि-शब्दात् वेपथु-स्तम्भ-रोमाञ्च-मूर्च्छन-स्वेद-वैवर्ण्याश्रुनिःश्वासोच्छ्वास-सन्ताप-शैत्य-जृम्भाकारस्य ग्रहः। भेदुरन्त्योत्सुकनावहित्थासावधानतालालाफेनमोहस्वनास्तम्भन हिक्कादेर्ग्रहः। नायमभिनयो वाचिकः शब्दानुकारात्। नाप्याङ्गिकः अङ्गोपाङ्गचेष्टाया अभावादिति। स्वरभेदाद्यनुभाव प्रदर्शनं रसोत्सव सत्यमाध्यमप्रवृ-त्यादौ ।वौ। चित्रानुसरतो द्रष्टव्यमिति।

नाट्यदर्पण – भाग-1, विवेक-3.

कुछ विद्वानों ने एकांगिक रूप से सात्त्विक भाव को आन्तरिक चित्तवृत्ति माना है । इनमें सर्वप्रथम अभिनवगुप्त हैं । इन्होंने नाट्य को रसमय माना है तथा सात्त्विक को रस का अन्तरंग । उनके मतानुसार समाहित मन को सत्त्व कहते हैं । इसी कारण अत्यधिक प्रयत्न के बिना इसकी सिद्धि नहीं होती है । सात्त्विक के अभाव में अभिनय-प्रक्रिया नाम मात्र को भी प्रकट नहीं हो सकती । वस्तुतः अभिनय तो चित्तवृत्ति का साधारणत्व प्राप्त करना है । वह तो प्राणों ॥चित्तवृत्ति॥ को ही साक्षात्कार रूप में प्रस्तुत किया गया प्रयत्न ही है । इस प्रक्रिया में चित्तवृत्ति ही संवेदन-भूमि में संक्रान्त होती हुई देह पर व्याप्त हो जाती है और इस चित्तवृत्ति को ही सत्त्व कहा जाता है ।[1]

अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि सात्त्विक के अभाव में अभिनय-प्रक्रिया हो ही नहीं सकती अर्थात् किसी भी प्रकार का अभिनय मन की एकाग्रता के बिना सम्भव नहीं हो सकता है । इसीलिये अभिनय सभी के द्वारा साध्य नहीं है, किन्तु अभिनवगुप्त ने सात्त्विक-भावों को एक प्रकार की ऐसी मानसिक-स्थिति माना है, जिसके वशीभूत होकर सात्त्विक-भाव प्रकट होने लगते हैं । इनको चित्तवृत्ति मानने में एक बाधा है कि यदि ऐसा मानेंगे तब नट के अन्तःकरण में भावों की अनुभूति स्वीकार करनी पड़ेगी जो कि आवश्यक नहीं कि सभी नटों को होती हो । एकाग्रमन की बात तो सर्वथा स्वीकार्य है, किन्तु चित्तवृत्ति की बात नाट्य के विषय में स्वीकार्य नहीं प्रतीत होती है ।

पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने सात्त्विक भाव की काव्य के संदर्भ में व्याख्या की,

---

1. रसमयं हि नाट्यं रसे चान्तरङ्गः सात्त्विकस्तस्मात् स एवाभ्यन्तर्हितः सत्त्वे च नाट्यं प्रतिष्ठितम् । सत्त्वं च मनःसमाधानम् तस्माद् भूयसा प्रयत्नेन विना न सिद्ध्यतीति सात्त्विकाभावे अभिनय-क्रिया नामापि नोन्मीलति अभिनयनं हि चित्तवृत्ति-साधारण्यापत्तिः प्राणसाक्षात्कार-कल्पाध्यवसाय-सम्पादनमिति ।

अ०भा० भाग 3, पृष्ठ 149-150.

जिसके फलस्वरूप सात्त्विक भावों का अभिनेयता पक्ष गौण हो गया, तथापि इन आचार्यों के विचारों के अनुशीलन से तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि इन आचार्यों की दृष्टि से इन भावों की अभिनेयता ओझल नहीं हो पाई है। चित्तवृत्तिस्वरूप मानते हुये भी वे अभिनेयता पक्ष को स्वीकारते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने नितान्त मौलिक विचार प्रतिपादित करते हुये कहा है कि व्यभिचारी-भाव सात्त्विक-भावों से न्यून हैं, क्योंकि ग्लानि, आलस्य प्रमादि व्यभिचारी ऐसे हैं जिनकी उत्पत्ति बाह्य हेतुओं से होती है, जबकि सात्त्विक भाव अन्तःकरण के धर्म हैं। सात्त्विक-भावों का रसों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि रसों के विभाव भी इनके विभाव होते हैं। इन्हें भी अनुभाव ही व्यक्त करते हैं। अतः ये अनुभाव नहीं हैं।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने सात्त्विकभावों को अन्तःकरण का ही धर्म माना है और उन्हें व्यभिचारियों से अलग मानते हुये जो यह स्वरूप दिया गया है कि इसके हेतु आन्तरिक होते हैं इससे सात्त्विक-भावों का आन्तरिक स्वरूप प्रतिपादित होता है। सात्त्विक-भावों को आन्तरिक मानते हुये इन्होंने अनुभाव के माध्यम से इनका प्रकटीकरण माना है, किन्तु अनुभाव नहीं। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने सात्त्विक-भावों को प्रकारान्तर से मनोशारीरिक स्वीकार किया है। इससे सात्त्विक-भावों की अभिनयात्मकता सिद्ध होती है। इनकी विचारधारा में पर्याप्त मौलिकता है। दो अतिमार्गों अर्थात् आन्तरिक चित्तवृत्ति तथा अनुभाव मानने वाले आचार्यों के मध्य ये एक सन्तुलन स्थापित करते हैं। आगे व्याख्या करते हुये हेमचन्द्र ने कहा है सत्त्व से तात्पर्य है प्राण। स्थायी प्राण तक पहुँचकर भिन्न रूप धारण कर लेते हैं जो सात्त्विक

---

1. ते च प्राणभूमिप्रसरत्स्यादिसंवेदनवृत्तयो बाह्यचक्षुरूपभौतिकनेत्रजलादिलिङ्गगाविभावेन रत्यादिगतैवाति वर्णनागोचरेणाहूता अनुभावैश्च गम्यमाना भावा भवन्ति।

काव्यानुशासन, 2/79.

भाव कहे जाते हैं । प्राण में पृथ्वी का भाग प्रधान होने पर स्तम्भ, जल-प्रधान होने पर अश्रु, तेज प्रधान होने पर स्वेद, तेज के तीव्र शून्य होकर प्रधान होने पर वैवर्ण्य, आकाश का भाग प्रधान होने पर प्रलय, वायु के मन्द, मध्य तथा उत्कृष्ट आवेश से क्रमशः रोमांच कम्प तथा स्वरभंग होते हैं । शरीरधर्म स्तम्भादि बाह्यानुभावही इन आन्तरिक स्तम्भादि की व्यंजना करते हैं ।

वस्तुतः हेमचन्द्र जी यह व्याख्या सात्त्विक भावों के प्रकटीकरण की दुःसाध्यता पर ही बल देती है । पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि इन पाँच तत्त्वों के द्वारा ही शरीर का निर्माण हुआ है । तत्त्व से तात्पर्य हेमचन्द्र ने प्राण माना है अतएव आचार्य हेमचन्द्र भी सात्त्विक भावों को आन्तरिक ही मानते हैं किन्तु उनकी व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि मानसिक होते हुये भी ये शरीरज हैं ।

संगीतरत्नाकर में भी इसी विचार का पोषण हुआ है - रत्यादि भावों के द्वारा जब संवित् विकृत कर दी जाती है तब वह प्राण में अपना अध्यास करती है और प्राण देह को व्याप्त करता है तब यह स्तम्भादि विकार देह में उत्पन्न होते हैं । इस रत्यादि के अपने विभावों से विभावित तथा देह स्तम्भादि से अनुभावित होकर जो प्रकाशित होते हैं वे तत्त्वस्थ प्राण का प्रकाशन करने के कारण सात्त्विक-भाव कहलाते

---

1. सीदत्यस्मिन्मन इति व्युत्पत्तेः सत्त्वगुणोत्कर्षात्साधुत्वाच्च प्राणात्मकं वस्तु सत्त्वं, तत्र भवाः सात्त्विकाः । काव्यानुशासन, पृ0 124.

रत्याद्यविच्छिन्नवृत्तिविशेषाः पूर्वं संविद्रूपाः सम्भवन्ति तत आभ्यन्तरप्राणान् ते स्वव्याध्यासेन कलुषयन्ति ।

काव्यानुशासन टीका, पृ0 144-146.

हैं ।[1] इसके बाद शार्ङ्गदेव में हेमचन्द्र की ही भाँति पृथ्वी आदि से सात्त्विक भावों का वर्णन किया है । इस प्रकार संगीत-रत्नाकरकार ने भी सात्त्विक भावों की मानसिकता के साथ ही देहात्मकता को भी स्वीकार किया है जो कि इनके अभिनय-पक्ष को पुष्टता प्रदान करती है ।

कुमारगोस्वामी ने कहा कि सत्त्व विशिष्ट सामर्थ्य वाला होता है । अन्य किसी की अपेक्षा के बिना रसानुभूति कर सकता है उसी से सम्बन्धित होने एवं आत्म-सामर्थ्य के कारण इन भावों को सात्त्विक कहा गया है ।[2] अतः कुमार-गोस्वामी ने भी सात्त्विक भाव को अनुभूति पक्ष में ही रखा है अभिव्यक्ति पक्ष में नहीं । अतः इनका दृष्टिकोण नितान्त एकांगी है ।

भोजराज ने सात्त्विक-भावों को बाह्य व्यभिचारी कहकर उसके अभिनय पक्ष को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । बाह्य-व्यभिचारी का अर्थ है वे भाव जिनका शरीर के माध्यम से प्रदर्शन किया जा सके । इस प्रकार भोजराज भी ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने सात्त्विक-भावों को आन्तरिक मानते हुये भी मात्र चित्तवृत्ति ही न मानकर उसके बाह्य प्रकटीकरण पर भी प्रकाश डाला है । यद्यपि सात्त्विक-भावों को व्यभि-

---

1. उक्तै रत्यादिभिर्भावैः संविद् विद्धृयते यदा ।
   प्राणेऽध्यस्यति सात्मानं देहं प्राणस्तनोति सः ।।

   तदा स्तम्भादयो देहे विकाराः प्रभवन्त्यमी ।
   एवं सति स्वाद्यमानरत्यादिस्थैर्यि भावकैः ।।

   विभाविता देहसंस्थैः स्तम्भाद्यैरनुभाविताः ।
   अत्यन्तसंविदि प्राणे प्रकाशन्तेऽन्तरे भवाः ।।

   एते स्युः सात्त्विका भावाः सत्त्वप्राणप्रकाशनात् ।

   संगीतरत्नाकर, 6/1645-48.

2. केचित्-भावान्तर नैरपेक्ष्येण रसापरोक्षीकरणत्वलक्षणोक्तविशेषः सत्त्वम् तज्जन्या सात्त्विका इत्याहुः । रसायन टीका, प्रतापरुद्रीयम्, पृष्ठ 160.

चारी भाव तो नहीं माना जा सकता है और समस्त भाव सात्त्विक भाव हो सकते हैं । सभी भावों को मनःप्रभव मानने में शायद वे सभी भावों के अभिनय में मन की एकाग्रता को स्वीकार करते हैं ।[1]

रूपगोस्वामी के अनुसार सत्त्वप्रधान चित्त क्रमात् प्राणों से संयुक्त हो जाता है । विकार को प्राप्त प्राण शरीर को विक्षुब्ध कर स्तम्भादि भाव की उत्पत्ति करता है अर्थात् सभी गुणों को न्यग्भूत करके सत्त्व के प्रधान होने पर चित्त निर्मलता को प्राप्त होकर भावों को हृदय से ग्रहण करता है और वे भाव प्राणों को इस प्रकार आन्दोलित कर देते हैं कि शरीर से ये भाव स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं । इस प्रकार रूप-गोस्वामी ने सात्त्विक-भावों को चित्त की एकाग्रता से ही उत्पन्न बताया है । जब चित्त एकाग्र होता है तभी इन भावों का अभिनय सम्भव होता है, अन्यथा नहीं । इन भावों के प्रकटीकरण का माध्यम शरीर होने के कारण ये सर्वथा अभिनेय मानसिक चित्तवृत्ति मात्र नहीं हैं । अतः रूप-गोस्वामी पूर्णतया भरत के विचारों से सहमत प्रतीत होते हैं ।[2] उनके विचार से एकाग्र मन पर भावों का प्रतिबिम्बन अधिक सफलतापूर्वक किया जा सकता है । मन की एकाग्रता का कार्य के सम्पादन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है और वह अधिक प्रभावशाली बन जाता है । नट के लिये ऐसी मनःस्थिति आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य विषय है क्योंकि अभिनय एक जटिल प्रक्रिया है । उसमें भी सात्त्विक-अभिनय को अभिनीत करना सहज नहीं है ।

---

1. रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते ।
   निर्वृत्तयेऽस्य तद्योगात्प्रभवन्तीति सात्त्विकाः ॥

   सरस्वतीकण्ठाभरण 5/20.

2. चित्तं सत्त्वीभवत् प्राणे न्यस्यत्यात्मानमुद्भटम् ।
   प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम् ॥

   भक्तिरसामृतसिन्धुः, दक्षिण विभाग,
   लहरी-3, श्लोक-8.

भानुदत्त[1] ने हेमचन्द्र के सदृश ही व्यभिचारी भावों की सात्त्विक भावों से तुलना करते हुये कहा है कि जिस प्रकार सात्त्विकों के सम्बन्ध में सुख दुःख की अनुकूलता बताई गई है उसी प्रकार निर्वेदादि भी अनुकूलता लक्षण वाले होते हैं । अतएव यदि लक्षणों को मानेंगे तो इन्हें भी सात्त्विक कहना पड़ेगा सत्त्व शब्द प्राणि-वाचक है जिसका अर्थ है जीव-शरीर । जीव शरीर के धर्म ही सात्त्विक है अतः ये शरीर अथवा बाह्य मात्र हैं, आन्तर नहीं । तथापि नितान्त शारीरिक अक्षिमर्दन आदि से भेद दिखाने के लिये भानुदत्त ने चेष्टा और अक्षि-मर्दन आदि के लिये विकार शब्द का प्रयोग किया गया है ।

व्यभिचारी भाव भी वस्तुतः मानसिक स्थितिमात्र है किन्तु इनकी सूचना स्थित्यनुकूल वागंगादि अभिनय के प्रदर्शन से मिलती रहती है । अतएव इनका साक्षात्कार भी होता है । इसीलिये भानुदत्त ने सात्त्विक भावों को व्यभिचारी भावों

---

1. 'नन्वस्य सात्त्विकत्वं, व्यभिचारित्वं न कुतः, तदन्तरसाधारण्यादिति चेत् । अत्र केचित् सत्त्वं नाम परगतदुःखभावनायामत्यन्तानुकूलत्वम्, तेन सत्त्वेन भूता सात्त्विका इति व्यभिचारित्वमनादृत्य सात्त्विकव्यपदेश इति । तन्न, निर्वेद-स्मृतिप्रभृतीनामपि सात्त्विकव्यपदेशापत्तेः । न च परदुःखभावनायामष्टावेते समुत्पद्यन्त इत्यनुकूलशब्दार्थः । अतएव सात्त्विकत्वमप्येतेषामिति वाच्यम् । निर्वेदादेरपि परदुःखभावनायामप्युत्पत्तेरिति ।

अत्रेदं प्रतिभाति-सत्त्वशब्दस्य प्राणिवाचकत्वादत्र सत्त्वं जीवशरीरम् । तस्य धर्माः सात्त्विकाः इत्थं च शरीरभावाः स्तम्भादयः सात्त्विक-भावा इत्यभिधीयन्ते । स्थायिनो व्यभिचारिणश्च भावा आन्तरतया न शरीरधर्मा इति ।

न चाङ्गाकृष्टि-नेत्रमर्दनादीनामपि भावत्वापत्तिः तेषां भावलक्षणाभावात् । रसानुकूलो विकारो भाव इति हि तल्लक्षणम् । अङ्गाकृष्टादयो हि न विकाराः किन्तु शरीरचेष्टाः । प्रत्यक्षसिद्धमेतत् । अङ्गाकृष्टिरक्षिमर्दनं च पुरुषैरिच्छया विधीयते परित्यज्येत् च । जृम्भा च विकारादेव भवति, तन्निवृत्तौ निवर्तते चेति । रसतरङ्गिणी, तरङ्ग-4, पृ० 318, ।हि०सा०कु०।

के समानान्तर मान लिया है । लेकिन व्यभिचारी भावों का अभिनय बिना चित्त के समाधान के हो सकता है । यथा-श्रम, आलस्यादि का प्रदर्शन बिना समाहित मन के किया जा सकता है, जबकि सात्त्विक-भावों के अभिनय में ऐसा करना असम्भव है ।

सात्त्विक-भावों की व्याख्या करते समय भानुदत्त की दृष्टि वस्तुतः विशुद्ध रूप से नाट्यशास्त्रीय रही है । अभिनेता की दृष्टि से भानुदत्त ने सात्त्विक भावों को देह का धर्म स्वीकृत किया है । उन्होंने सात्त्विक-अभिनय की दुःसाध्यता को ध्यान में रखकर ही उसे मात्र आंगिक चेष्टाओं से अलग कोटि का माना है ।

अर्वाचीन विद्वानों का मत

आधुनिक विद्वानों में रघुवंश[1] ने सात्त्विक-भावों को अनुभाव मानते हुये इनका सम्बन्ध सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति से माना है । इनके अनुसार अनुभावों की स्थिति न मात्र अन्तराश्रय है न शुद्ध मानसिक । इनकी अभिव्यक्ति विशेष मनोवेग से है और चित्त-विक्षेप के साथ इनका प्रदर्शन नहीं हो सकता । अन्तःकरण के विशेष-धर्म सत्त्व से उत्पन्न अंग विकारों को सात्त्विक अनुभाव माना गया है ।

डा० राकेश गुप्त[2] सात्त्विकों को भाव नहीं मानते हैं । उनके मतानुसार सात्त्विक भाव यदि शारीरिक है तो उनका अन्य भावों पर निर्भर रहना अनुचित है तथा भरत ने सात्त्विकों को अन्तःप्रभव कहा है, उसका अर्थ नहीं । अतः सात्त्विक-भाव अनुभाव ही है ।

डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित[3] ने राकेश गुप्त की बात का खण्डन करते हुये कहा है कि व्यभिचारी भाव स्थायी-भावों पर आश्रित रहते हैं, फिर भी उन्हें भाव

---

1. नाट्यकला, पृ० 105.
2. साइकोलॉजिकल स्टडीज़ इन रस, पृ० 156-157.
3. रस-सिद्धान्तः स्वरूप विश्लेषण, पृ० 53.

की संज्ञा दी गई है । इसी प्रकार यदि सात्त्विक भी दूसरे भावों पर निर्भर करते हैं तो उन्हें भाव कहने में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती । प्रलय सात्त्विक भाव को तो गुप्तजी ने भी अनुभावों से पृथक् रखा है । साथ ही समाहित मानसिक दशा की स्वीकृति तथा भोजादि द्वारा सत्त्वगुण की स्वीकृति तत्त्व को धर्म प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है ।

रघुवंश महोदय सात्त्विक-भावों को आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही स्वरूपों में स्वीकार करते हैं, यह तो ठीक है, किन्तु सात्त्विक-भावों को केवल अनुभाव नहीं स्वीकार किया जा सकता । यही बात डा० राकेश गुप्त के विषय में भी कही जा सकती है । इन्होंने सात्त्विक भाव के भरतादि द्वारा व्याख्यात स्वरूप को पूर्णतया अस्वीकृत कर दिया । सात्त्विक भावों को न तो आन्तरिक माना है और न उसे बाह्य स्वरूप को स्वीकार किया है उसको अनुभाव ही मान लिया है जो कि सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है । सात्त्विक-भाव का स्वरूप मनोशारीरिक है, बिना चित्त के अवधान के इनका दैहिक रूप प्रकट हो ही नहीं सकता । अतः इन्हें अनुभाव कैसे माना जा सकता है ? डा० आनन्द-प्रकाश दीक्षित के द्वारा डा० राकेश गुप्त की आलोचना सर्वथा उपयुक्त है । रघुवंश महोदय ने सात्त्विक-भावों की उत्पत्ति में मनोवेगों से उत्पन्न विशिष्ट मनःस्थिति को मूल कारण माना है जो कि भरतादि द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का ही पोषक है । तथा डा० रघुवंश एवं डा० राकेश गुप्त के द्वारा सात्त्विक भाव को अनुभाव की श्रेणी में रखना विश्वनाथ, रामचन्द्र - गुणचन्द्र की परम्परा का ही द्योतक है ।

डा० मनोहर काले के अनुसार भरत की मान्यता में 'नाट्य' मात्र की प्रतिष्ठा की कसौटी दैहिक ~~ए~~ सत्व है न कि आभ्यन्तर अमूर्त मनोभावनायें या चित्तवृत्तियाँ ।[1] उनके अनुसार सत्त्व का शाब्दिक अर्थ है देह या शरीर । स्तम्भ, स्वेद, रोमांच आदि

---

1. भारतीय नाट्य सौन्दर्य

1. आधुनिक हिन्दी, मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन ।

दैहिक प्रक्रियायें हैं । भरत ने इनकी व्याख्या नाट्य के दृष्टिकोण से की है । अतः अभिनय पद्धति को ध्यान में रखना अनिवार्य था । मन लगाकर अभिनय करने से ही सत्त्व की निष्पत्ति होती है, क्योंकि एक नितान्त भिन्न मनोदशा में रहकर इन देहात्मक सात्त्विक भावों का मंच पर लोक स्वभावानुरूप निर्माण करना नट के लिये सम्भव नहीं है । डा0 काले के अनुसार शंकुक आदि नाट्याचार्यों ने विशुद्ध नाट्य-दृष्टि से ही सात्त्विक भावों की देहात्मकता का विवेचन किया है वे इन भावों के मूल में निहित मानवीय अमूर्त भावनाओं की आन्तरिक-स्थिति का प्रत्याख्यान नहीं करते, वरन् नाट्य-कला के प्रशिक्षण के सन्दर्भ में इस प्रकार के चित्तवृत्यात्मक या अस्फुट अव्यक्त मनोभावनामूलक सात्त्विक-भावों की चर्चा गौण-मात्र ठहराते हैं ।

यह ज्ञात तथ्य है कि शंकुक का मत सर्वथा अमान्य है । शंकुक अनुकर्ता की स्वअनुभूति को बिल्कुल स्वीकार नहीं करते हैं । शंकुक की सबसे बड़ी त्रुटि यही थी कि उन्होंने नट की कल्पना तथा स्मृति को लक्षित नहीं किया । नट यद्यपि जिस भूमिका को अभिनीत करता है आवश्यक नहीं है कि वह उसकी वैयक्तिक अनुभूतियों पर आधारित हो, परन्तु लोकानुकरण के माध्यम से उसे इतना ज्ञान तथा अनुभव होना चाहिये कि विभिन्न परिस्थितियों में किस तरह की मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक दशा होगी, जिससे उन परिस्थितियों का अभिनय करते समय वह अपने अनुभव एवं तीक्ष्ण पर्यवेक्षण-शक्ति के द्वारा अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर अभिनय कर सके । किन्तु डा0 मनोहर काले का यह कथन उचित ही है कि सात्त्विक-भावों का विवेचन अमूर्त मानवीय चित्तवृत्ति को केन्द्र में रखकर नहीं हुआ है । क्योंकि जहाँ तक सात्त्विक भावों के अभिनय का प्रश्न है साक्षात्कारात्मक प्रक्रिया होने के कारण वह अमूर्त नहीं हो सकती । किन्तु उनका यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता है कि लोकस्वभावगत सुख-दुःखात्मक भावनायें अस्फुट या अमूर्त या अव्यक्त रहती हैं। प्रथम तो यह है कि अभिनयों का विवेचन लोक-स्वभाव के आधार पर किया गया है। किसी मनुष्य के हृदय में विद्यमान अनुभूति का बाह्य लोक तभी अनुभव करता है जब उसका प्रत्यक्षीकरण होता है । मनुष्य का अश्रुमोचन देखकर ही हम उसके मानसिक-भाव का अनुमान लगा लेते हैं तब वे अमूर्त और अव्यक्त कैसे हुए ? अतः लोक-स्वभावगत अमूर्त और मनोभावनाओं के बाह्य स्वरूपों की चर्चा नाट्य-कला के सन्दर्भ में गौण नहीं

है, अपितु सात्त्विक-अभिनय के प्रसंग में प्रमुखता धारण कर लेती है क्योंकि जब तक अभिनेता इन लोकस्वभावगत सुख-दुःख की भावनाओं का पर्यवेक्षण के द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक सात्त्विक अभिनय उसके लिये असम्भव है ।

नाट्य की दृष्टि से डा0 मनोहर काले सात्त्विक भावों को चित्तवृत्तिस्वरूप नहीं मानते हैं, अपितु देहात्मक मानते हैं । किन्तु दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि इन देहात्मक नाट्य-भावों के निर्माण में मन की समाहित अवस्था ऐकान्तिक महत्त्व रखती है । यहाँ पर यह कहना सर्वथा उचित ही होगा कि मन भी तो आन्तरिक धर्म है, चित्तवृत्ति ही तो मन का व्यापार है । किसी विशेष प्रकार की चित्त-वृत्ति को अन्तःकरण में अनुभव करने से ही यह सात्त्विक-अभिनय सम्भव हो सकेगा ।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वस्तुतः सभी आधुनिक विचार-धारायें संस्कृत-नाट्य-शास्त्रीय अथवा काव्य-शास्त्रीय दृष्टियों से प्रभावित हैं । किसी नूतन सिद्धान्त का प्रतिपादन उपलब्ध नहीं होता है । सात्त्विक भावों के स्वरूप को लेकर प्राचीन-काल से ही विवाद चला आ रहा है । सात्त्विक भावों का स्वरूप मानसिक है या शारीरिक इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है । पर्यालोचन से ज्ञात होता है कुछ विद्वान् इसे शारीरिक मानते हैं और कुछ विद्वान् मानसिक तथा अन्य वर्ग इसके मनोशारीरिक स्वरूप को स्वीकार करते हैं । यदि सात्त्विक-भावों को श्रव्य काव्य के सन्दर्भ में परिभाषित किया जाय तब यह एक चित्तवृत्तिविशेष ही है, अर्थात् मनुष्य का आन्तर-धर्म है । श्रव्य-काव्य अमूर्त भावों का प्रतिपादन करने के कारण एवं सहृदय-परक होने के कारण हृदय-मात्र में अनुभूति को जन्म देते हैं । भरत का सारा रस-विवेचन नाट्य-परक रहा है । अतएव जहाँ तक सात्त्विक भावों का दृश्य-काव्य से सम्बन्ध है इसे मात्र आन्तर-धर्म मानने से अभिनय से सम्बन्धित कठिनाइयाँ सामने आ जायेंगी । नट अपने अन्दर आवश्यक नहीं कि किसी रस या भाव की अनुभूति करे, क्योंकि वास्तविक रूप से रसाप्लावित होने पर अभिनयगत अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। जैसे प्रलय-सात्त्विकभावाभिनय की स्थिति में यदि वस्तुतः अभिनेता की चेतना नष्ट

हो जाती है तो नाटक का अभिनय ही अवरुद्ध हो जायगा । अतः सात्त्विक - भावाभिनय में वास्तविक भाव का प्रदर्शन नहीं होता, अपितु अधिकाधिक कौशल के साथ अभिनय-कला का प्रदर्शन होता है, और यह कौशल अधिकाधिक श्रेष्ठ तब होगा, जब परमार्थ में वास्तविक न होता हुआ भी व्यवहार में प्रेक्षकों को यह वास्तविक ही प्रतीत होगा । अभिनय में कौशल एवं श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि अभिनेता अभिनय-कला में अपने को तल्लीन कर सके । तभी अभिनय-कार्य का सम्पादन श्रेष्ठता से हो सकेगा । सम्भवतः आचार्य भरत अभिनेता होने के नाते इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे अतः उन्होंने उनचास भावों की गणना करते समय आठ सात्त्विक भावों की गणना अलग से की है, जिनका वैशिष्ट्य समाहित मन की अवस्था ही है । सम तथा आङ् उपसर्ग धा धातु से क्त प्रत्यय का संयोग करने पर समाहित शब्द की व्युत्पत्ति हुई है जिसका अर्थ है समाधि युक्त होना । इस प्रकार सात्त्विक-भावों का अभिनय इतना कठिन है कि जब तक अभिनेता अपना चित्त एकाग्र नहीं करता तब तक वह इन सात्त्विक भावों को अभिनीत नहीं कर सकता है । आंगिक, वाचिक अभिनय तो बिना चित्त को स्थिर किये मात्र अभ्यास के माध्यम से सिद्ध किये जा सकते हैं, किन्तु सात्त्विक-भावों का अभिनय मन, की एकाग्रता से रहित होकर यन्त्र-वत् रहकर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । इसी कारण सात्त्विक-अभिनय की प्रचुरता से युक्त अभिनय श्रेष्ठ कहा जाता है, क्योंकि इनका अभिनय दुःसाध्य है । सात्त्विक भावों को अभिनीत करते समय अभिनेता को अपना मन पूर्णतया अभिनय को समर्पित करना पड़ता है । तभी सात्त्विक-भावों का अभिनय सम्भव हो सकता है । XX सात्त्विक-भावों x xxx के सम्पूर्ण विवेचन से सात्त्विक-भावों का मनोशारीरिक स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है । सात्त्विक भाव अपने मनोशारीरिक स्वरूप के कारण ही सर्वथा अभिनेय हैं ।

---------::0::---------

तृतीय अध्याय

सात्त्विक अभिनय - सिद्धान्त एवं प्रयोग

सात्त्विक भावाभिनय - सिद्धान्त एवं प्रयोग

सात्त्विकभाव का स्वरूप समीक्षकों के मध्य विवाद का विषय रहा है। सात्त्विकभावों का मनोशारीरिक स्वरूप ही इस विवाद के मूल में है। मन एवं शरीर के पृथक् तत्त्व होने के कारण ही विद्वानों की दृष्टि इस स्वरूप-विवेचन में एकांगी रह गई है। अतः उन्होंने या तो विवेचन में सात्त्विक भावों को चित्तवृत्तिस्वरूप माना अथवा केवल बाह्य स्वरूप पर बल देकर इन्हें अनुभावस्वरूप स्वीकार कर लिया।

इसी प्रकार सात्त्विक भावों के भेद के विषय में आचार्यों में मतैक्य हो ऐसी बात नहीं है। अधिकांशतः आचार्यों ने सात्त्विक भाव के आठ ही भेद स्वीकार किये हैं। आचार्य भरत ने इन सात्त्विक भावों का विवरण इस प्रकार दिया है -

> स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ।
> वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥[1]

कुछ आचार्यों ने अन्य कई सात्त्विक-भावों की गणना भी की है जैसे - भानुदत्त ने जृम्भा को भी सात्त्विक भाव माना है। सात्त्विक शब्द की व्युत्पत्ति है - 'अवहितं मनः सत्त्वं तत्प्रयोजनं हेतुरस्येति सात्त्विकः। अर्थात् एकाग्र मन का नाम सत्त्व है, यह प्रयोजन जिसका प्रयोजन अर्थात् हेतु हो वह सात्त्विक कहलाता है।

भानुदत्त द्वारा परिगणित जृम्भा शरीर की सहज क्रिया है, मनःस्थिति नहीं। अतः सात्त्विक भावों में इसकी परिगणना उचित नहीं है। यही कारण है कि भरत के परवर्ती अधिकांशतः सभी आचार्यों ने आठ ही सात्त्विक भाव स्वीकार किये हैं। जिनका मनःस्थिति जन्य सिद्ध होना मान्य तथ्य है। इस सात्त्विक भावाभिनय का विवेचन इस प्रकार है -

स्तम्भसात्त्विकभावाभिनय-प्रयोग-पक्ष सिद्धान्त-पक्ष

स्तम्भ शब्द की व्युत्पत्ति स्तम्भ् धातु से अप् प्रत्यय के संयोग से हुई है।

---

1. नाट्यशास्त्र 7/94.

स्तम्भ का अर्थ है जड़ हो जाना । स्तम्भ का अर्थ है खम्भा । भावावेग से शरीर का खम्भे के समान अचल होकर ठक् से रह जाना स्तम्भ सात्त्विक भाव है । किसी परिस्थिति विशेष में शरीर स्तम्भ की तरह जड़ हो जाय तब वहीं पर स्तम्भ नामक सात्त्विक भाव की उत्पत्ति हो जाती है । इन परिस्थितियों का भरत ने विवेचन किया है । यथा-हर्ष, भय, शोक, विस्मय, विषाद, रोष इत्यादि की परिस्थितियों में इस सात्त्विक-भाव की उत्पत्ति होती है ।[1] आचार्य विश्वनाथ ने भी इन्हीं कारणों का उल्लेख किया है -

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयहर्षामयादिभिः ।[2]

मनुष्य इष्ट या अनिष्ट दोनों ही प्रकार की अत्यधिक तीव्र अनुभूति को उत्पन्न करने वाली अप्रत्याशित घटनाओं के प्रति असावधान होता है, किन्तु जब घटनायें एकाएक घटित हो जाती है तब वह स्तम्भित रह जाता है । अतः यह अवस्था भावातिरेक में ही होती है । अत्यधिक भावातिरेक एवं अत्यधिक हर्षातिरेक दोनों ही अवस्थाओं में मनुष्य अभिव्यक्ति न कर पाने के कारण जड़ सा रह जाता है जिसके कारण मन किं वा शरीर के व्यापार रुक जाते हैं ।

मन सत्त्व का आश्रय लेकर, बुद्धि को आश्लिष्ट कर प्रत्येक इन्द्रिय-गोचर विषयों का स्वभावतः अनुभव करता है । यद्यपि सात्त्विक-भावों में सामान्यतः अनु-भावत्व है, फिर भी सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण इन सात्त्विक भावों के पृथक् रूप से लक्षण शास्त्रकारों ने किये हैं । स्तम्भ सात्त्विक भाव का दैहिक स्वरूप इस प्रकार है जिससे इसकी प्रत्यभिज्ञा की जाती है -

'निश्चेष्टो निष्प्रकम्पश्च स्थितः शून्यजडाकृतिः ।
निःसंज्ञः स्तब्धगात्रश्च स्तम्भ स्त्वभिनयेद् बुधः ।।[3]

---

1. नाट्यशास्त्र 7/96
2. साहित्यदर्पण, 3/136.
3. नाट्यशास्त्र, 7/101.

अतः सात्त्विक भावों का अभिनय करने के लिये अभिनेता को संज्ञाहीन, चेष्टाहीन, गतिहीन, जड़ाकृति के स्तब्ध और संज्ञाहीन देहज स्वरूपों को प्रकट करना पड़ता है ।

स्तम्भ की अवस्था के विषय में यह भी कहा है कि यह शारीरिक चेष्टाओं को क्रियाहीन करके भी प्रदर्शित किया जा सकता है । इसको सात्त्विक भावों के अन्दर परिगणित करने की क्या आवश्यकता है । किन्तु सभी सात्त्विक भाव अपने देहज स्वरूप से ही सहृदय को ज्ञात होते हैं । अभिनय से तात्पर्य है कि भावों को मूर्त स्वरूप प्रदान किया जाय । अमूर्त्त रूप में वे कल्पना के आश्रय होते हैं । अतः बाह्य विकार के रूप में तो इन्हें प्रकट ही किया जायगा । मन की असावधानता स्तम्भ के अभिनय सम्पादन को दुष्कर बना देगी, क्योंकि सत्त्व मन के आत्यन्तिक सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, अतः मन की एकाग्रता स्तम्भ भावाभिनय के लिये अत्यन्त आवश्यक है । लौकिक जगत् में भी भावातिरेक की मनःस्थिति में ही स्तम्भ की स्थिति देखी जाती है । अतः स्तम्भ की परिगणना सात्त्विक भावों के अन्तर्गत सर्वथा उचित है ।

स्तम्भसात्त्विकभावाभिनय का प्रयोग पक्ष

संस्कृत-साहित्य के नाटकों में स्तम्भ सात्त्विक भाव का प्रयोग अत्यन्त समृद्ध रूप में प्राप्त होता है । भाव-प्रधान नाटक जिनमें भावुकता या संवेदना का प्रभाव अधिक है, वहाँ सात्त्विक भावों का प्रयोग व्यापक रूप में प्राप्त होता है । ऐसा ही भावुकता के क्षणों में लिखा गया संवेदनाप्रधान नाटक भवभूति रचित उत्तररामचरित है । इस नाटक में राम की भावुकता दर्शनीय है । उनकी पीड़ा कर्त्तव्य के कारण लोक के सम्मुख प्रकट नहीं हो पाती है, किन्तु संसार से परे एकान्त क्षणों में 'पुटपाक-प्रतीकाशो रामस्य करुणो रस' मानों द्रवित होकर प्रवाहित हो उठती है । वासन्ती के साथ वार्तालाप के समय श्री राम वासन्ती के मर्मभेदी उलाहनों के कारण विचलित हो उठते हैं तथा अत्यन्त पीड़ा के कारण मूर्च्छित हो जाते हैं । ऐसे समय में सीता अपने हाथ से श्रीराम के हृदय तथा मस्तक का स्पर्श करती हैं । इतने दीर्घकालीन अन्तराल के पश्चात् पति का स्पर्श उनके हृदय में आनन्दातिरेक को जन्म देता है ।

अतः उनमें स्तम्भ भाव का उदय हो जाता है । इस अवस्था के कारण वे अपना हाथ हटा ही नहीं पाती हैं । इस अवस्था की प्रतीति इन शब्दों के माध्यम से होती है ।

'राम : तर्हि किमन्यत् । पुनरपि प्राप्ता जानकी ।

वासन्ती - अयि देव रामभद्र क्व सा ?

× × × × × ×

सीता - अपसर्तुमिच्छामि । स्व पुनः चिरप्रणयसम्भारसौम्यशीतलेन आर्यपुत्रस्पर्शेन दीर्घदारुणमपि झटिति सन्तापमुल्लाघयता वज्रलेपोपनद्ध इव पर्यस्तव्यापार आतञ्चित इव मदग्रहस्तः ।'[1]

यहाँ पर सीता के द्वारा स्तम्भसात्त्विकभाव का अभिनय किया जायेगा । हाथ का जड होने का सीता के द्वारा कथन किया गया है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जडत्व केवल हाथ में ही है । पति का स्पर्श उनमें मनोवेग की तीव्रता को जन्म देता है और स्तम्भ सात्त्विकभाव का उदय होता है ।

प्रस्तुत स्थल पर सीता के द्वारा हाथ के जडत्व का उल्लेख इसलिये किया गया है, क्योंकि सीता अपने हाथ से राम का स्पर्श करती है, किन्तु स्तम्भ सात्त्विक भाव के उदय हो जाने से सीता अपना हाथ हटा ही नहीं पाती है । अतः राम के द्वारा सीता का कर ग्रहण कर लिया जाता है -

'राम:- मया लब्धः पाणिर्ललितलवलीकन्दलनिभः ।'

इसके पश्चात् राम एवं सीता दोनों में स्तम्भ, रोमाञ्च एवं स्वेद तीनों ही

---

1. उत्तररामचरित, अंक 3, पृ0 190.

सात्त्विक भाव अत्यन्त द्रुत गति से उदित होते चले जाते हैं -

> राम:- करपल्लव: स तस्या: सहसैव जडो जडात्परिभ्रष्ट: ।
> परिकम्पिन: प्रकम्पी करान्मम स्विद्यत: स्विद्यन् ।। [1]

इन तीनों ही सात्त्विक भावों का एक साथ उदय मनुष्य के हृदय में उठने वाले मनोवेगों की अत्यधिक प्रबलता के परिचायक हैं ।

हर्षरचित रत्नावली नाटिका में उदयन से मिलने के लिये सागरिका को वासवदत्ता के वस्त्रों में अवगुण्ठन डाल कर आना था । संयोगवश वासवदत्ता ही वहाँ पर आ जाती है । राजा उसे सागरिका समझकर उसकी प्रशंसा करता है, किन्तु अचानक उसे पता चलता है कि यह तो वासवदत्ता है । उस समय राजा को विस्मय होता है और वासवदत्ता के प्रति अपराधी बनने पर विषाद भी होता है । ऐसी मन:स्थिति में स्तम्भ नामक सात्त्विक भाव की उत्पत्ति होगी तथा वहाँ पर उसी भाव का अभिनय भी होगा । राजा के इस कथन से उसकी मन:स्थिति की प्रतीति होती है -

> 'राजा - (सवैलक्ष्यमपवार्य) कथं देवी वासवदत्ता । वयस्य किमेतत् ?
> 'विदूषक: (सविषादम्) भो वयस्य किं अपरम् ।
> अस्माकम् जीवित-संशयो जात एव: ।। [2]

यहाँ पर सागरिका के स्थान पर स्वयं वासवदत्ता की उपस्थिति राजा में विस्मय के अतिरेक को जन्म देती है । अत: यह अतिरेक यहाँ पर स्तम्भसात्त्विकभाव के उत्पन्न होने का कारण है ।

---

1. उत्तररामचरित, अंक 3, पृ0 192.

2. रत्नावली, अंक 3, पृ0 179.

<u>स्वेदसात्त्विकभावाभिनय-सिद्धान्तम्</u>

स्विद् से भावे घञ् प्रत्यय के योग से स्वेद शब्द की निष्पत्ति होती है। स्वेद का अर्थ है पसीना। शरीर के रोम-रन्ध्रों से पसीने का निकलना स्वेद-सात्त्विक भाव का दैहिक स्वरूप है। यह सात्त्विक भाव अत्यन्त श्रम-साध्य है क्योंकि स्वेद का निकलना सहज कार्य नहीं है। आचार्य भरत ने कुछ परिस्थितियों को स्वेद का जनक बताया है -

'क्रोधभयहर्षलज्जादुःखश्रमरोगतापघातेभ्यः
व्यायामक्लमघर्मैः स्वेदः सम्पीडनाच्चैव ।'[1]

अर्थात् क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, ताप, चोट, व्यायाम, क्लेश, घाम तथा अंगों के सम्पीडन में स्वेद उत्पन्न होता है। यह तो सत्य है कि लोक में इन्हीं कारणों से स्वेद की उत्पत्ति मानी जाती है, किन्तु यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तब यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख इत्यादि तो मानसिक अवस्थायें हैं, किन्तु श्रम, रोग तथा ताप इत्यादि से उत्पन्न स्वेद मात्र शारीरिक प्रक्रिया है। वहाँ पर मानसिक अवस्था से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इन अवस्थाओं में गर्मी से शरीर गर्म हो जाता है और त्वचा शुष्क होने लगती है। इसे ठण्डा करने के लिये शरीर की ग्रन्थियाँ शरीर की सतह को पानी देती हैं, जो पसीना कहलाता है। जब यह पसीना सूखता है तो शरीर से गुप्त ताप लेकर शरीर को ठण्डा बनाता है। जिससे शरीर को राहत मिलती है। अतः यह सम्पूर्ण प्रक्रिया मात्र शारीरिक है। इन कारणों को स्वेद नामक सात्त्विक भाव का जनक मानने में कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता है। आचार्य विश्वनाथ ने भी इन्हीं कारणों को स्वीकार किया है।

'वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिधर्मश्रमादिभिः ।'[2]

1. नाट्यशास्त्र 7/95
2. साहित्यदर्पण 3/138.

जबकि आचार्य भरत ने सात्त्विक-भावों के विवेचन के प्रसंग में स्पष्टतः कहा है -

"अत्राह - किमन्ये भावाः सत्त्वेन विनाऽभिनीयन्ते यस्मादुच्यन्ते एते सात्त्विका इति ? अत्रोच्यते-एवमेतत् । कस्मात् ? इह हि सत्त्वं नाम मनःप्रभवम् ।"[1]

साथ ही, अन्य अभिनयों से सात्त्विक अभिनय का भी भेदक धर्म उसकी मनः-प्रभवता ही है । सत्त्व अर्थात् मन से उत्पन्न होना, विशेष मनः स्थिति को प्रकाशित करना ही सात्त्विक अभिनय का धर्म है ।

अतः क्रोध, भय, लज्जा, दुःख इत्यादि की स्थिति में स्वेद नामक सात्त्विक भाव स्थिति में स्वेद नामक सात्त्विक भाव की उत्पत्ति होती है अन्यत्र शारीरिक विकारों से उत्पन्न स्वेद को भी इसमें परिगणित करना उचित नहीं है ।

स्वेद-सात्त्विक-भाव की प्रत्यक्षानुभूति कराने के लिये इसकी अभिव्यंजना करने वाले देहज विकारों का आश्रय लिया जाता है जिसके कारण सामाजिक सहजता से भाव को ग्रहण कर लेता है । स्वेद का अभिनय पंखा उठा लेने, पसीना तथा वायु की अभिलाषा इत्यादि के द्वारा प्रकट किया जाता है -

"व्यजनग्रहणाच्चापि स्वेदापनयनेन च ।
स्वेद एवाभिनेतव्यस्तथा वाताभिलाषतः ॥"[2]

अतः अभिनेता को इन देहज विकारों के प्रदर्शन द्वारा सात्त्विक भाव का अभिनय सम्पादित करना चाहिये ।

<u>स्वेदसात्त्विकभावाभिनय - प्रयोगपक्ष</u>

उत्तररामचरित में दीर्घकालीन वियोग के पश्चात् सीता जब अचानक राम

---

1. नाट्यशास्त्र, अध्याय सप्तम पृ0 429, वृत्तिभाग ।
2. नाट्यशास्त्र 7/102.

को देखती हैं तब उनकी स्थिति विलक्षण हो जाती है । उनमें कई सात्त्विक भाव एक साथ जागृत हो उठते हैं -

'तमसा - सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताङ्गी जाता प्रियस्पर्शेन सुखेन वत्सा ।
मरुन्नवाम्भः परिधूतसिक्ता कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव ।'[1]

यहाँ पर तीन सात्त्विक भाव एक साथ उदित हुए - स्वेद, रोमाञ्च तथा वेपथु । इन तीनों का एक साथ उदय हृदय में उठे हुये तीव्र आवेग की प्रत्यक्षानुभूति सहृदय सामाजिक को कराने में सक्षम है । आवेगों की अत्यधिक तीव्रता ही एक साथ तीन सात्त्विक भावों के उदय कारण है । सीता अपने हृदय में उठते हुये भावों के कारण स्वयं को सन्तुलित करने में असमर्थ है । मानसिक स्थिति की जटिलता ही यहाँ पर प्रदर्शित की गई है । तीन सात्त्विक भाव हृदय में प्रतिक्षण परिवर्तित होती हुई अनुभूति को प्रकट करते हैं ।

<u>रोमाञ्च-सात्त्विक-भावाभिनय</u> रुह् धातु से मनिन् प्रत्यय का संयोग करने से रोमन् तथा रोमन् से अच् का संयोग होने पर रोमाञ्च शब्द की निष्पत्ति होती है । इस शब्द का अर्थ है शरीर का पुलकित होना अर्थात् रोमों का अर्थ खड़ा हो जाना । आचार्य भरत ने स्पर्श, भय, शीत, हर्ष, क्रोध तथा रोग से रोमाञ्च की उत्पत्ति स्वीकार की है ।[2] इसमें रोग तथा शीत को मनःस्थिति नहीं माना जा सकता । अतः शुद्ध सात्त्विकता की दृष्टि से यह कारण उचित नहीं है । आचार्य विश्वनाथ ने इस विषय में जिन स्थितियों का उल्लेख किया है वह सर्वथा मान्य है - "हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया ।"[3]

आचार्य विश्वनाथ ने रोमाञ्च के कारणों में विस्मय का भी उल्लेख किया है

---

1. उत्तररामचरित, 3/42.
2. स्पर्शभयशीतहर्षैः क्रोधाद्रोगाच्च रोमाञ्चः । नाट्यशास्त्र 7/98.
3 साहित्यदर्पण-ना0 3/137.

जो कि लोक में देखा जाने के कारण सर्वथा उचित है । उज्ज्वलनीलमणिकार ने भी इन्हीं कारणों को स्वीकार किया है ।[1] साधारण स्पर्श भी रोमांच की उत्पत्ति नहीं कर सकता । भावातिरेक को जन्म देने वाला विशिष्ट प्रकार का स्पर्श ही रोमांच की उत्पत्ति में सहायक होता है । इस प्रकार स्पर्श, भय, हर्ष, क्रोध तथा विस्मय की मनःस्थितियाँ ही रोमांच की जनक होती हैं ।

इन मनःस्थितियों में अभिनेता को कैसा अभिनय करना चाहिये जिससे सामाजिक को सात्त्विक भाव की प्रतीति हो सके, इसका आचार्य भरत ने इस प्रकार विधान किया है - रोमांच का अभिनय रोयें खड़े हो जाना, पुलक की आवृत्ति तथा गात्रस्पर्श के द्वारा किया जाना चाहिये -

"मुहुः कण्टकितत्वेन तथोल्लुकसनेन च ।
पुलकेन च रोमांचं गात्रस्पर्शेन दर्शयेत् ।।"[2]

<u>रोमाञ्च-सात्त्विक-भावाभिनय-प्रयोगपक्ष</u>

उत्तररामचरित में रामचन्द्र सीता के स्पर्श के सुख से रोमांचित हो उठते हैं। उनकी मनःस्थिति की प्रतीति इन शब्दों से होती है -

"<u>रामः</u>- (आनन्दसुन्मीलिताक्ष एव) सखि वासन्ति, दिष्ट्या वर्धसे ।

<u>वासन्ती</u> - देव, कथमिव ।

<u>रामः</u> - सखि किमन्यत् । पुनरपि प्राप्ता जानकी ।

<u>वासन्ती</u> - अपि देव रामभद्र, क्व सा ?

<u>रामः</u> - (स्पर्शसुखमभिनीय) पश्य नन्वियं पुरत एव ।"[3]

---

1. उज्ज्वलनीलमणिः पृ0 360-361.
2. नाट्यशास्त्र, 7/103.
3. उत्तररामचरित अंक-3 , पृ0 189.

कभी-कभी दो तरह के मनोभाव एकाएक इस तरह उदित होते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति कर पाना दुष्कर हो जाता है तथा तीव्र अनुभूति रोमांच को जन्म दे देती है। ऐसी ही अवस्था राजा उदयन की स्वप्नवासवदत्तम् में उस समय होती है, जब वह वासवदत्ता को जीवित अवस्था में देखता है। वासवदत्ता मर चुकी है, ऐसा सभी को ज्ञात था। अतः वासवदत्ता को जीवित देखकर उदयन विस्मित हो जाता है, दूसरी ओर वासवदत्ता के प्रति असीम प्रेम होने के कारण अत्यन्त हर्ष की अनुभूति भी करता है। अतः यहाँ पर रोमांच नामक सात्त्विक-भावाभिनय का सम्पादन होगा। यह प्रसंग दर्शनीय है -

'यौगन्धरायणः - जयतु स्वामी।

वासवदत्ता - जयत्वार्यपुत्रः।

राजा - अये। अये यौगन्धरायणः, इयं महासेनपुत्री। किन्नु सत्यमिदं स्वप्नः सा भूयो दृश्यते अनयाप्येवमाहं दृष्ट्या वञ्चितस्तदा।'[1]

स्वरभङ्ग सात्त्विकभावाभिनय -- सिद्धान्तपक्ष

स्वर् धातु से अच् प्रत्यय अथवा स्वृ धातु से अप् प्रत्यय के संयोग से स्वर तथा भञ्ज् के साथ घञ् प्रत्यय के संयोग से स्वर-भङ्ग निष्पन्न होता है। स्वर-भङ्ग का अर्थ है गले का रुँध जाना तथा वाणी के प्रवाह का अवरुद्ध होना। आचार्य भरत ने भय, हर्ष, क्रोध, वृद्धावस्था, गले के सूखने, रोग तथा मद से स्वरभंग सात्त्विक भावों की उत्पत्ति स्वीकार की है :-

स्वरभेदो भयहर्षक्रोधजरारौक्ष्यरोगमदजनितः।

नाट्यशास्त्र 7/99.

आचार्य विश्वनाथ ने भरतोक्त कारणों का ही पोषण करते हुये पीड़ा का

---

1. स्वप्नवासवदत्तम् पृ0 227-228, षष्ठ अंक।

भी सामान्य रूप से उल्लेख किया है ।[1] किन्तु इन सभी कारणों में भय, हर्ष, क्रोध मद इत्यादि ही सात्त्विक-भाव की उत्पत्ति के मानसिक हेतु हैं, अन्य कारण शारीरिक स्थिति से सम्बन्धित हैं । अतः स्वरभङ्ग-सात्त्विक-भाव के उत्पत्ति हेतुओं में इन्हीं मानसिक हेतुओं की परिगणना की जानी चाहिये । स्वर-भङ्ग की स्थिति वृद्धावस्था रोग इत्यादि में भी होती है किन्तु इन अवस्थाओं में उत्पन्न स्वर-भङ्ग मनःस्थिति के कारण नहीं होता है ।

स्वर-भङ्ग का अभिनय विधान करते हुये आचार्य भरत कहते हैं कि इसका अभिनय भिन्न तथा गद्गद् स्वर से करना चाहिये :-

स्वरभेदोऽभिनेतव्यो भिन्नगद्गदनिस्वनैः ।[2]

स्वर-भङ्ग में निश्चित रूप से स्वाभाविक वाणी का प्रवाह अवरुद्ध होने से स्वर में भिन्नता आ जायेगी । इन दृश्य स्वरूपों से स्वरभङ्ग सात्त्विक-भाव की प्रत्यक्षानुभूति सामाजिक को होती है ।

स्वरभङ्गसात्त्विकभावाभिनय-प्रयोगपक्ष

अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में विषाद जनित स्वर-भङ्ग का उदाहरण प्राप्त होता है । महर्षि काश्यप अपनी दुहिता शकुन्तला को पतिगृह के लिये भेजते समय अत्यन्त व्यथित हो उठते हैं । उनकी व्यथा उनके कण्ठ को भी अवरुद्ध कर देती है ।

---

1. मदसंमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गदं विदुः ।

   साहित्यदर्पण 3/138.

2. नाट्यशास्त्र 7/104.

'काश्यप - यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ।।'[1]

यह स्थल स्वरभङ्ग-सात्त्विक भावाभिनय का है, जो कि दुहिता से वियोग के कारण उत्पन्न विषाद की मनःस्थिति से उत्पन्न है । यहाँ कण्ठावरोध का सुस्पष्ट वर्णन है और इस भाव के अभिनय में स्वर के गद्गद् हो जाने का उत्कृष्ट अभिनय होगा । जितनी गहन भावानुभूति के साथ इसका अभिनय होगा, उतनी ही अधिक सान्द्रता, रसपेशलता एवं सहृदय-हृदयरञ्जकता उसमें विद्यमान होगी । अतः यह सात्त्विक भावाभिनय के सुन्दरतम उदाहरणों में से एक है ।

<u>वेपथुसात्त्विकभावाभिनय-सिद्धान्तपक्ष</u>

वेप धातु से अथुच् प्रत्यय के संयोग से वेपथु शब्द की निष्पत्ति होती है । वेपथु का अर्थ है शरीर में कम्पन होना । भरत मुनि के अनुसार शीत, भय, हर्ष, क्रोध, स्पर्श, जरा तथा रोग से कम्प उत्पन्न होता है -

'शीतभयहर्षक्रोधस्पर्शजरारोगेभ्यः कम्पः ।'[2]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अनुराग, द्वेष, परिश्रम आदि के कारण वेपथु सात्त्विक भाव की उत्पत्ति होती है ।

'रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ।'[3]

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/6.
2. नाट्यशास्त्र 7/96
3. साहित्यदर्पण 3/138.

उज्ज्वलनीलमणिकार ने वेपथु के निम्न कारण माने हैं -

1. भयजीत, 2. हर्षजात एवं 3. अमर्षजात ।[1]

इस प्रकार भय, हर्ष, क्रोध तथा अनुभूति जाग्रत करने वाला स्पर्श, अनुराग, द्वेष इत्यादि मानसिक स्थितियाँ होने के कारण वेपथु नामक सात्त्विक-भाव की जनक हैं, जबकि शीत, रोग, श्रम इत्यादि शारीरिक विकार होने के कारण सात्त्विकभाव की उत्पत्ति के हेतु नहीं हो सकते हैं ।

वेपथु सात्त्विक-भाव की प्रत्यक्षानुभूति कराने के लिये अभिनेता को किन दैहिक विकारों का प्रदर्शन करना चाहिये इसका भरत ने स्पष्ट विधान किया है कि वेपथु का अभिनय अंगों के काँपने, फड़कने, हिलने आदि से किया जाना चाहिये ।

वेपथुसात्त्विकभावाभिनय - प्रयोगपक्ष

भय की मनःस्थिति होने पर मनुष्य का सम्पूर्ण शरीर सिहर उठता है जो प्रत्येक उसके अन्दर के भय को बाह्य-अभिव्यक्ति प्रदान करता है । उत्तररामचरित में सीता का परित्याग सुनकर पिता जनक क्रुद्ध हो उठते हैं । उस समय कौशल्या अनिष्ट की आशंका से काँप उठती है -

'जनकः - अहो निर्दयता दुरात्मनां पौराणाम् ।
अहो रामभद्रस्य क्षिप्रकारिता ।

कौशल्या - (सभयकम्पम्) भगवति, परित्रायताम् ।
प्रसादय कुपितं राजर्षिम् ।'[2]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के 5वें अंक में यह प्रसंग वेपथु नामक सात्त्विक भावाभिनय

---

1. उज्ज्वलनीलमणिः पृ0 360-361.

2. उत्तररामचरित, अंक 4, पृ0 246-247.

का अत्यन्त सुन्दर प्रसंग है -

'गौतमी - वत्स शार्ङ्गरव ! अनुगच्छतीयं खलु नः, करुणपरिदेविनी शकुन्तला। प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा न मे पुत्रिका करोतु ।'

शार्ङ्गरव : ॥सरोषं निवृत्य॥ किं पुरोभागे, स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ?

॥शकुन्तला भीता वेपते॥[1]

उपर्युक्त प्रसंग में पति द्वारा अपमानिता एवं पितृगृहविहीना शकुन्तला के हृदय में गहन दुःख एवं भय का मिला जुला भाव उसके सम्पूर्ण शरीर में सिहरन उत्पन्न कर देता है ।

वैवर्ण्यसात्त्विकभावाभिनय-सिद्धान्तपक्ष

विवर्ण धातु से ष्यञ् प्रत्यय का योग करने पर वैवर्ण्य शब्द की निष्पत्ति होती है । वैवर्ण्य का अर्थ है मुख का रंग उड़ जाना । आचार्य भरत ने शीत, क्रोध, भय, थकावट, रोग, क्लेश तथा ताप से वैवर्ण्य-सात्त्विक-भाव की उत्पत्ति मानी है- 'शीतक्रोधभयश्रमरोगक्लमतापज च वैवर्ण्यम् ।'[2] इन कारणों में से क्रोध, भय तथा क्लम ही मनःस्थितियाँ हैं । अन्य सभी शारीरिक विकार हैं । अतः ये सात्त्विक-भाव के उत्पत्ति के हेतु हो सकते हैं । आचार्य विश्वनाथ ने वैवर्ण्य-सात्त्विक-भाव की उत्पत्ति की हेतु 3 प्रकार की मनःस्थितियों को स्वीकार किया है -

'विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता ।'[3]

ये सभी मानसिक भाव हैं अतः सात्त्विक भावों की उत्पत्ति के हेतु हैं ।

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् अंक 5, पृ0 322.
2. नाट्यशास्त्र 7/98.
3. साहित्यदर्पण 3/139.

शकुन्तला (पश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा) न खल्वार्यपुत्र इव ।
ततः क एष इदानीं कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गात्रसंस्पर्शेन दूषयति ?[1]

उत्तररामचरित के तृतीय अंक में भी ऐसा ही अवसर आता है । सीता-परित्याग के कारण विरही राम जो कि राजा होने के कारण अपना हृदयस्थ दुःख प्रकट भी नहीं कर सकते हैं । अन्तःकरण में निरन्तर दग्ध रहने के कारण उनके चेहरे की कान्ति विलुप्त हो गई है, अदृश्यरूपा सीता इन्हें देखकर कहती है- 'सीता

'सीता (दृष्ट्वा) दिष्ट्या कथं प्रभातचन्द्रमण्डलापाण्डर परिक्षामदुर्बलाकारेण निजसौम्यगम्भीरानुभावमात्रप्रत्यभिज्ञेय एवार्यपुत्रो भवति । भगवति तमसे, धारय माम् ।'[2]

अतः यहाँ पर राम का अभिनय करने वाले नट को वैवर्ण्य-सात्त्विक-भावाभिनय प्रदर्शित करना होगा ।

अश्रुसात्त्विकभावाभिनय - सिद्धान्तपक्ष

अश् धातु से क्रुन् प्रत्यय का योग करने पर अश्रु शब्द की निष्पत्ति होती है। अश्रु से तात्पर्य नेत्रों से निकलने वाले जलबिन्दुओं से है । आचार्य भरत के अनुसार आनन्द, अमर्ष, धूम्र, जृम्भा, भय, शोक निर्निमेष दृष्टि से देखना, शीत-रोगादि से अश्रु-सात्त्विकभाव की उत्पत्ति होती है -

'आनन्दामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणाद्भयाच्छोकात् ।
अनिमेषप्रेक्षणतः शीताद्रोगाद् भवेदस्रम् ।।'[3]

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् , सप्तम अंक, पृ० 466-168.
2. उत्तररामचरित, अंक 3, पृ० 143.
3. नाट्यशास्त्र 7/106.

इनमें से आनन्द, अमर्ष, भय, शोक ही मानसिक स्थितियाँ हैं अतः यह ही अश्रु-सात्त्विक-भाव की जननी है । आचार्य विश्वनाथ ने भी क्रोध, दुःख तथा हर्ष से अश्रु-सात्त्विक-भाव की उत्पत्ति मानी है ।

'अश्रु नेत्रोद्भवं वारि क्रोधदुःखप्रहर्षजम् ।'[1]

उज्ज्वलनीलमणिकार ने अश्रु सात्त्विकभाव की उत्पत्ति के चार कारण बताये हैं - हर्ष, रोष, ईर्ष्या तथा विषाद । ईर्ष्योत्थ अश्रु जो कि स्त्रियों का स्वभावज गुण है, उज्ज्वलनीलमणिकार उसी का अभिनय विधान इस प्रकार किया है -

"शिरः कम्पि सनिश्वासं स्फुरदोष्ठकपोलम् ।
कटाक्षभ्रुकुटी वक्त्रं स्त्रीणामीर्ष्योत्थरोदनम् ॥"[2]

आचार्य भरत ने अश्रु सात्त्विक-भाव के अभिनय का विधान इस प्रकार किया है -

"बाष्पाम्बुप्लुतनेत्रत्वान्नेत्रसम्मार्जनेन च ।
मुहुरश्रुकणापातैरस्रं त्वभिनयेद् बुधः ॥"[3]

अश्रु-सात्त्विक-भाव की उत्पत्ति के समय यही प्रक्रिया घटित होती है । नेत्रों में जल भर आता है, जलबिन्दु गिरने लगते हैं तथा स्वभावतः अश्रु को मनुष्य पोंछने लगता है, अतः यह चेष्टायें सहृदय सामाजिकों को अश्रु सात्त्विक-भाव का बोध करा देती है ।

<u>अश्रुसात्त्विकभावाभिनय - प्रयोगपक्ष</u>

अमर्ष की तीव्रानुभूति मनुष्य को विचलित कर देती है ऐसी मनःस्थिति में

---

1. साहित्यदर्पण 3/139.
2. उज्ज्वलनीलमणि, पृ0 360-361.
3. नाट्यशास्त्र 7/106.

मनुष्य के हृदय के पीड़ा एवं ईर्ष्या के मिले जुले भाव अश्रु-सात्त्विक भाव को जन्म देते हैं। मुद्राराक्षस में कूटनीतिज्ञ चाणक्य एवं नन्द के मन्त्री राक्षस में राजनीतिसम्बन्धी दाँव-पेंच चलते रहते हैं। जिनमें चाणक्य की बुद्धि निरन्तर विजयिनी होती है। फलस्वरूप चन्द्रगुप्त की अभिवृद्धि राक्षस के हृदय में असीम ईर्ष्या को जन्म देती है -

'राक्षस -

(आकाशमवलोकयन् सासूयम्) भगवति कमलालये भृशमगुणज्ञासि। कुतः ?

आनन्दहेतुमपि देवमपास्य नन्दं,
सक्तासि किं कथय वैरिणि मौर्यपुत्रे।
दानाम्बुराजिरिव गन्धगजस्य नाशे,
तत्रैव किं न चपले प्रलयं गतासि ॥[1]

यहाँ पर राक्षस के अश्रु ईर्ष्याभाव के कारण ही उदित हुये हैं।

रत्नावली नाटिका में राजा उदयन वासवदत्ता को अवगुण्ठन के कारण भ्रम-वश सागरिका समझकर चाटुकारिता करता है। अतः वासवदत्ता के हृदय में साग-रिका के प्रति ईर्ष्या भाव के कारण अश्रु-सात्त्विक-भाव का उदय होता है :-

'राजा - प्रिये सागरिके।

'वासवदत्ता - (सबाष्पमपवार्य) काञ्चनमाले एवमपि मन्त्रयित्वार्यपुत्रः पुनरपि मामालपिष्यत्यहो आश्चर्यम्।'[2]

मानव का मन अत्यन्त विचित्र है। अत्यधिक दुःख में अश्रुमोचन एक नैसर्गिक प्रक्रिया है किन्तु हर्षातिरेक में भी मानव के अश्रु निकल पड़ते हैं। उत्तररामचरित में सीता अपने परित्याग के दुःख को किसी तरह वहन कर रही है। श्रीराम के द्वारा वासन्ती के साथ वार्तालाप के प्रसंग में राम अपने हृदय के भावों को अभिव्यक्त करते हैं जिससे सीता को यह विश्वास हो जाता है कि श्री राम के मन में सीता का

---

1. मुद्राराक्षस, पृ० 85-86, अंक 2.
2. रत्नावली, पृ० 175, अंक 3.

वही श्रद्धा एवं स्नेह से युक्त स्थान है । उनका परित्याग केवल लोकरंजनार्थ हुआ है। पति के हृदय में अपने प्रति ऐसे भाव देखकर सीता के नेत्रों से सदैव दुःख एवं विषाद से निकलने वाले अश्रुओं के स्थान पर आनन्द के अश्रु निकल पड़ते हैं । यह प्रसंग दर्शनीय है -

"रामः - अस्ति चेदानीमश्वमेधसहधर्मचारिणी मे ।

वासन्ती - परणीतमपि किम् ?

रामः - नहि, नहि । हिरण्मयी सीताप्रतिकृतिः ।

सीता - ‡सोच्छ्वासास्रम्‡ आर्यपुत्र । इदानीमसि त्वम् । अहो, उत्खातितमिदानी में परित्यागशल्यमार्यपुत्रेण ।"[1]

शोक ऐसी मनःस्थिति है, जिसमें अश्रु का निकलना अधिकांशतः अनिवार्य ही होता है । अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त अपने विरह को दूर करने के लिये शकुन्तला को चित्रित करता है । वह शकुन्तला को उन्माद की स्थिति के कारण साक्षात् समझने लगता है । विदूषक के द्वारा स्वप्नलोक से बाहर लाये जाने पर उसे पुनः उसी कष्टप्रद मनःस्थिति का अनुभव करना पड़ता है । अतः शकुन्तला की स्मृति में अश्रु-सात्त्विक-भाव का उदय होता है :-

"विदूषकः - भो चित्रं खल्वेतत् ।

राजा - कथं चित्रम् ? वयस्य किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् ?

'दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन ।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ।'[2]
‡ इति बाष्पं विहरति ‡

1. उत्तररामचरित, अंक 3, पृ0 203.

2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक 6, पृ0 401-402.

प्रलयसात्त्विकभावाभिनय - सिद्धान्तपक्ष

प्र उपसर्ग ली धातु में अच् प्रत्यय के संयोग से प्रलय शब्द की निष्पत्ति होती है । प्रलय का अर्थ है चेष्टाशून्यता या ज्ञानशून्यता । आचार्य भरत के अनुसार श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, चोट तथा मोह आदि से प्रलय की उत्पत्ति होती है :-

'श्रममूर्च्छामदनिद्राभिघातमोहादिभिः प्रलयः ।'[1]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार सुख अथवा दुःख के अतिरेक में चेष्टाशून्यता किंवा ज्ञानशून्यता प्रलय है । आचार्य विश्वनाथ द्वारा व्यक्त अभिमत अधिक समीचीन जान पड़ता है क्योंकि भरत द्वारा बताये हेतुओं में से मूर्च्छा तथा मोह तीव्र मनोवेगों के कारण ही होते हैं वह मनोवेग चाहे कैसा हो सुखात्मक अथवा दुःखात्मक । इन दोनों के अतिरिक्त मद को भी मनःस्थिति में सम्मिलित किया जा सकता है, किन्तु श्रम, निद्रा, अभिघात शारीरिक विकार है, मनःस्थिति नहीं । इसलिये इन्हें सात्त्विक भाव का जनक नहीं माना जा सकता है । अतः सुखात्मक या दुःखात्मक तीव्र मनोवेग से उत्पन्न मूर्च्छा, मोह तथा इनके अतिरिक्त मद प्रलय-सात्त्विक भाव के कारण माने जा सकते हैं ।

आचार्य भरत ने निर्देश दिया है कि प्रलय का अभिनय चेष्टाहीन, निष्कम्प, श्वास बन्द करने और पृथ्वी पर गिरने इत्यादि अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिये ।

प्रलयसात्त्विकभावाभिनय - प्रयोगपक्ष

उत्तररामचरित के तृतीय अंक में राम के शोकावेग के कारण सीता उनके हृदय एवं हस्त को स्पर्श करती हैं । सीता के स्पर्श से मूर्च्छित राम को पुनः चेतना प्राप्त

---

1. नाट्यशास्त्र 7/99

हो जाती है. किन्तु सीता के स्पर्श से उत्पन्न आनन्द उनमें पुनः मोह की स्थिति उत्पन्न कर देता है । इस स्थल पर राम में प्रलयसात्त्विकभाव का उदय होता है -

'वासन्ती - दिष्ट्या प्रत्यापन्नचेतनो रामभद्रः ।

राम: - आलिम्पन्नमृतमयैरिव प्रलेपै -
रन्तर्वा बहिरपि वा शरीरधातून्
संस्पर्शः पुनरपि जीवयन्नकस्मा-
दानन्दादपरमिवादधाति मोहम् ।'[1]

अतः यहाँ पर राम का अभिनय करने वाले अभिनेता को प्रलय-सात्त्विक-भाव का अभिनय करना होगा । मृच्छकटिक के चतुर्थ अंक में शर्विलक जब मदनिका को चारुदत्त के गृह में चोरी करने की सम्पूर्ण घटना का विवरण देता है तब चारुदत्त को अवश्य ही इसने मार दिया होगा अथवा घायल कर दिया होगा इस दुःख के आवेग से वसन्तसेना एवं मदनिका दोनों ही मूर्च्छित हो जाती हैं -

'शर्विलक - अयि ! प्रभाते मया श्रुतं श्रेष्ठि-चत्वरे - यथा सार्थवाहस्य चारुदत्तस्य इति ।
(वसन्तसेना मदनिका च मूर्च्छां नाटयतः ।)[2]

यहाँ पर भी वसन्तसेना या मदनिका की भूमिका करने वाली अभिनेत्री को प्रलय-सात्त्विक-भावाभिनय करना होगा ।

---

1. उत्तररामचरित पृ0 189, अंक 3.

2. मृच्छकटिक, चतुर्थ अंक, पृ0 204.

प्रलय तथा स्तम्भ-स्वरूपगत विभेद

प्रलय तथा स्तम्भ अपने स्वरूप में साम्य लिये हुये प्रतीत होते हैं, क्योंकि दोनों ही भावों की उत्पत्ति के कारणभूत मनोवेग एक जैसे हैं तथा दोनों ही भावों के देहज विकार भी एक जैसे प्रतीत होते हैं यथा स्तम्भ में निस्संज्ञता जड़ता की स्थिति हो जाती है तथा प्रलय में भी 'चेष्टाज्ञाननिराकृतिः' की स्थिति हो जाती है, किन्तु मूलतः दोनों में अन्तर है। प्रलय सात्त्विक-भाव में मनोवेग की तीव्रता की मात्रा अत्यधिक होती है। इस तरह का मनोवेग मनुष्य में चेष्टाशून्यता ही नहीं, ज्ञानशून्यता भी उत्पन्न कर देता है। अतः मूर्च्छा, मोह इत्यादि की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जबकि स्तम्भ की अवस्था में मनोवेग प्रलयावस्था की तुलना में न्यून होता है जिसके कारण चेष्टाहीनता तो उत्पन्न हो जाती है किन्तु ज्ञानशून्यता की स्थिति नहीं हो पाती है। इसीलिये दोनों भेदों की पृथक् रूप में परिगणना की गई है, जो सर्वथा उचित है।

निष्कर्ष

सात्त्विकभाव का स्वरूप मनोशारीरिक होने के कारण इनका अभिनय दुःसाध्य है। इसीलिये अन्य अभिनयों की अपेक्षा ये अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य भरत ने कतिपय शारीरिक हेतुओं को भी सात्त्विकभावों के उद्भव का कारण मान लिया है। जैसे-ताप के कारण स्वेद निकलना अथवा धूम्र के कारण अश्रु का निकलना। किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तब सात्त्विकभावों के उद्भव के हेतुओं में इनकी परिगणना उचित नहीं है। धूम्र उत्पन्न होने पर अश्रु प्रवाहित होगा ही, उसके लिये मन का समाहित होना बिल्कुल आवश्यक नहीं है, यह शरीर की सहज प्रक्रिया है। यदि सात्त्विकभावों के उद्भव का कारण इन्हें स्वीकार कर लेंगे तब सात्त्विक भाव का मूल स्वरूप ही विकृत हो जायेगा। सात्त्विकभावों के अभिनय की यही विशिष्टता है कि 'मन समाहित अवस्था' में हो, अन्यथा इनका अभिनय ही नहीं हो पायेगा। अपनी इसी विशेषता के कारण ये नाट्य की अभिव्यक्ति को सक्षम बनाते हुये प्रभावशाली रूप से नाट्यार्थों को सम्प्रेषित करने में समर्थ होते हैं।

इस प्रकार सत्त्व को मन का पर्यायवाची स्वीकार करके ही सात्त्विकाभिनय की व्याख्या करना समुचित प्रतीत होता है। सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण ही सात्त्विक अभिनय की जटिलता स्वयं सिद्ध है। मन का समाहित होना और भी कठिन स्थिति है। मन स्वयं एक जटिल तत्त्व है। सात्त्विक-अभिनय का मनोशारीरिक रूप इसको जटिलतर बना देता है। मन में सहज रूप से उद्भूत हुये भाव को ग्रहण कर तुरन्त शरीर पर उसके लक्षणों का प्रकट हो जाना सत्त्व में ही अभिनय क्रिया का कठिन पक्ष है। मन की जटिल ग्रन्थियों को खोलकर बाहर प्रकाशित करना, मन में सहज रूप में न आये हुये भाव को सहज जैसा दिखाकर शरीर पर प्रकट करना दुःसाध्य कार्य है। अतः सात्त्विक-भाव की स्थिति लोकपक्ष में चाहे जो हो, परन्तु अभिनयपक्ष के लिये यह एक कठिन प्रक्रिया है। अतः सात्त्विकाभिनय वस्तुतः समस्त अभिनयों में विशिष्ट है और इसीलिये इसका विशेष रूप से पर्यवेक्षण करने की आवश्यकता हुई है।

---------::0::---------

चतुर्थ अध्याय

आंगिक अभिनय
सिद्धान्त एवं प्रयोग

आङ्गिकाभिनय — स्वरूप-विवेचन

शारीरिक अंगों के संचालन द्वारा सम्पादित अभिनय आंगिकाभिनय कहलाता है । आंगिक अभिनय का समुचित एवं कुशलतापूर्ण प्रयोग नाट्यार्थ की अभिव्यक्ति को सरसता प्रदान करता है । यद्यपि आंगिक चेष्टाओं का आधिक्य नाट्य की प्रस्तुति को न्यून बना देता है, तथापि इसका सन्तुलित प्रयोग नाट्य के प्रस्तुतीकरण को सार्थक बनाने के लिए आवश्यक है ।

भरत के अतिरिक्त आचार्य नन्दिकेश्वर ही ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने आंगिकाभिनय पर विस्तार से विचार किया है । यद्यपि आचार्य नन्दिकेश्वर के विचारों में पर्याप्त मौलिकता है, तथापि भरत जैसी सूक्ष्म दृष्टि का अभाव है । आंगिक अभिनय का विवेचन इस तथ्य की पुष्टि करता है । आंगिक अभिनय का स्वरूप क्या है, इस पर कई विद्वानों ने विचार प्रकट किये हैं । आचार्य नन्दिकेश्वर इत्यादि विद्वानों ने अंगों द्वारा प्रदर्शित अभिनय को ही आंगिक अभिनय कहा है ।[1] शारीरिक अंगों के द्वारा विभिन्न अर्थों, रसों, भावों इत्यादि की अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है । नाट्यदर्पणकार ने भी कार्यों की अंगों, उपांगों के द्वारा सामाजिक के सम्मुख साक्षात् प्रस्तुति को आंगिक अभिनय कहा है ।[2] अतः यह स्पष्ट है कि आंगिक अभिनय के निष्पादन में शरीर की चेष्टायें ही सहायक हैं ।

---

1. (क) तत्र आङ्गिकोऽङ्गैर्निदर्शितः ।

   — अभिनयदर्पण, श्लोक सं0 39.

   (ख) आङ्गिको शरीरारम्भः अग्निपुराण 342/2.

   (ग) आङ्गिकोऽङ्गैर्दर्शितो मतः ।

   — सङ्गीतरत्नाकर 7/20

2. कर्मणोऽङ्गैरुपाङ्गैश्च साक्षाद् भावनमाङ्गिकः ।

   — नाट्यदर्पण 3/52.

आङ्गिकाभिनय के अन्तर्गत शरीर के अङ्गों, उपाङ्गों एवं प्रत्यङ्गों द्वारा नाट्यार्थ को प्रदर्शित किया जाता है । इन अङ्गों, उपाङ्गों एवं प्रत्यङ्गों में से प्रत्येक के द्वारा सम्पादित आङ्गिक अभिनय अपने स्वरूप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । अङ्गों से भाव, रस एवं अर्थ का निष्पादन होता है । उपाङ्ग भाव एवं रस के पोषक हैं तथा प्रत्यङ्ग भाव एवं रसविशेष से रहित होते हैं, परन्तु अभिनय में अर्थ और क्रियाओं के साधन हैं ।[1] यह विभेद मात्र औपचारिक प्रतीत होता है क्योंकि अङ्गों, उपाङ्गों तथा प्रत्यङ्गों द्वारा सम्पादित सम्पूर्ण आङ्गिक अभिनय समन्वित रूप में ही प्रभावशाली होता है । ये विभेद पृथक् रूप से वस्तुतः कोई विशिष्ट महत्त्व नहीं रखते हैं । इनका अलग अलग विवेचन आङ्गिक अभिनय को सूक्ष्म रूप से विश्लेषित करने का प्रयत्न है, क्योंकि आङ्गिक चेष्टाओं का मनुष्य के जीवन में अत्यधिक व्यापक रूप में प्रयोग होता है । उनका एकत्र रूप में विवेचन दुष्कर कार्य है ।

आङ्गिकाभिनय की अधिकता रसानुभूति में सहायक सिद्ध नहीं होती है तथा शास्त्रकारों ने आङ्गिकाभिनय के बाहुल्य से युक्त अभिनय को निम्न श्रेणी में ही रखा है, तथापि इन कथनों से आङ्गिकाभिनय के महत्त्व को न्यून नहीं समझना चाहिये । भरत द्वारा विश्लेषित आङ्गिकाभिनय का विवेचन अत्यन्त विशद है । इसके अन्तर्गत विविध रसों एवं भावों को प्रदर्शित करने वाली दृष्टियों का विवेचन आङ्गिकाभिनय को चतुर्विध नाट्याभिनय के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करता

---

1. (क) भावरसार्थ क्रियाकारित्वम् अङ्गत्वम् ।

बालरामभरतम् पृ० 16.

(ख) भावरसबोधकत्वमुपाङ्गत्वम् ।

बालरामभरतम् पृ० 16.

(ग) प्रत्यङ्गेषु ग्रीवादिषु भावरसविशेषरहितत्वसम्भवात् ।
अर्थक्रियासाधकारित्वेन प्रत्यङ्गानामङ्गत्वसम्भवात् ॥
बालरामभरतम् पृ० 17.

है ।[1] वस्तुतः दृष्टियाँ आन्तरिक भावों के प्रकटीकरण का सशक्त माध्यम हैं । हृदय के गूढ़ भावों को नेत्रों की भाषा के द्वारा सहजता से पढ़ा जा सकता है । अन्य माध्यम इस दृष्टि से न्यून पड़ जाते हैं । अतः आन्तरिक भावों के प्रकटीकरण में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है । आचार्य भरत ने इन दृष्टियों का आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत सन्निवेश करके उसके महत्त्व को द्विगुणित ही किया है । आचार्य भरत का आङ्गिकाभिनय सम्बन्धी विवेचन अत्यन्त विस्तृत सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक है । आङ्गिक अभिनय का इतना प्रौढ़ विवेचन तत्कालीन भारतीय नाट्यकला के समृद्ध स्वरूप को ही प्रकट करता है । भारत में प्राचीनकाल में ही नाट्य-कला को अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी इसका स्पष्ट रूप में सङ्केत मिल जाता है । सभी महत्त्वपूर्ण अङ्गों से सम्बन्धित अभिनयों का विवेचन नाट्यशास्त्र में प्राप्य है जिनका विवरण इस प्रकार है -

<u>आङ्गिक अभिनय के भेद</u>

नाट्यशास्त्र में आङ्गिकाभिनय के तीन भेद बताये गये हैं - 1. शारीरज 2. मुखज और 3. चेष्टाकृत ।[2] शरीर के मुख्य अङ्ग - सिर, हाथ, कटि, पार्श्व, पैर आदि की चेष्टाओं और मुद्राओं से प्रदर्शित किये जाने वाले अभिनय को शारीरज कहते हैं ।[3] मुखमण्डल के अन्तर्गत जिन उपाङ्गों का समावेश है, इनके नाम हैं - भ्रू, नेत्र, कर्ण, अधर, कपोल और ठोड़ी आदि ।[4] इनके द्वारा प्रदर्शित अभिनय को मुखज या उपाङ्गाभिनय कहते हैं । इनको उपाङ्ग कहने का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि ये शारीरिक प्रक्रियाओं में मुख्य स्थान नहीं रखते हैं । सम्पूर्ण शरीर द्वारा मनोगत भावों या बाह्य चेष्टाओं द्वारा किये जाने वाले अभिनय को चेष्टाकृत कहा गया है ।

---

1. क. नाट्यशास्त्र 8/38
   ख. नाट्यशास्त्र 8/39
   ग. नाट्यशास्त्र 8/43
2. नाट्यशास्त्र 8/11
3. नाट्यशास्त्र 8/12
4. नाट्यशास्त्र 8/13.

भरत के अतिरिक्त आचार्य नन्दिकेश्वर ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने आङ्गिक अभिनय पर व्यापक विचार किया है । उनकी दृष्टि से परम्परा अछूती नहीं है तथापि उन्होंने आङ्गिक अभिनय पर कुछ स्वतन्त्र रूप से विचार अभिव्यक्त किये हैं । उन्होंने आङ्गिक अभिनय के तीन साधन बताये हैं - अङ्ग, प्रत्यङ्ग तथा उपाङ्ग । इन साधनों द्वारा एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् किये जाने वाले अभिनय को आङ्गिक अभिनय कहा है । नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण दोनों में आङ्गिकाभिनय के छः अङ्ग बताये गये हैं, जिनकी नामावली समान है - शिर, दोनों हाथ, वक्ष-स्थल दोनों पार्श्व, दोनों कटि-प्रदेश तथा दोनों पैर । कुछ आचार्यों ने ग्रीवा को भी अङ्गों में स्वीकार किया है । आचार्य भरत के द्वारा परिगणित उपाङ्ग छः ही हैं । इसके विपरीत आचार्य नन्दिकेश्वर ने उपाङ्गों की संख्या बारह बताई है । इनमें नेत्रों की पुतलियाँ, दोनों कुहनियाँ, दाँत, जिह्वा, मुख और शिर उपाङ्ग नवीन हैं । आचार्य नन्दि-केश्वर ने दोनों घुटने उँगलियाँ और हाथ पैरों के तलवे भी उपाङ्गों में स्वीकार किये हैं ।[1] इनके अतिरिक्त आचार्य नन्दिकेश्वर ने प्रत्यङ्ग नाम से नवीन भेद का भी विवेचन प्रस्तुत किया है । इसका उल्लेख पृथक् रूप से भरत ने नहीं किया है । ये प्रत्यङ्ग इस प्रकार हैं - दोनों हाथ, दोनों बाहें, पीठ, उदर, दोनों ऊरू, दोनों

---

1. उपाङ्गानतु स्कन्ध एव अङ्गुल्यः ।
   दृष्टिभ्रूपुटताराश्च कपोलौ नासिका हनू ॥
   अभिनयदर्पण 45.

   अधरौ दशना जिह्वा चिबुकं वदनं तथा ।
   उपाङ्गानि द्वादशैव शिरस्यङ्गान्तरेषु च ॥
   अभिनयदर्पण 46.

जंघायें ।[1] कुछ पूर्वाचार्यों ने कलाइयों, कुहनियों, घुटनों और ग्रीवा को भी प्रत्यङ्गों में सम्मिलित किया है ।

आचार्य नन्दिकेश्वर ने जिन नूतन प्रभेदों की सर्जना की है वे सभी भरत के द्वारा विवेचित आङ्गिकाभिनय में ही समाहित हो जाते हैं । भरत द्वारा विवेचित चारी-विधान, आसनविधान इत्यादि के पश्चात् इन प्रभेदों की अलग से परिगणना की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है । इन सभी का विवेचन आगे किये जाने का प्रयास किया गया है । यद्यपि यह विषय अत्यन्त विस्तृत है, तथापि संक्षेप में इस अध्याय में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है -

अङ्गाभिनय

आङ्गिक-अभिनय के अन्तर्गत सर्वप्रथम अङ्ग का अभिनय आता है । अङ्गाभिनय के अन्तर्गत शिर, हस्त, वक्ष, पार्श्व, कटि और पाद के अभिनय आते हैं । चूँकि शिर का स्थान सम्पूर्ण शरीर में प्रथम है, अतः आचार्य भरत ने शिरोऽभिनय के सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम किया है ।

शिरोऽभिनय

शिर द्वारा की गई चेष्टायें अनन्त हैं । आचार्य भरत ने प्रमुख रूप से तेरह

---

1. प्रत्यङ्गान्यथ च स्कन्धौ बाहू पृष्ठं तथोदरम् ॥
अभिनयदर्पण 43.

ऊरू जङ्घे षडित्याहुर् मणिबन्धकौ ।
जानुनी कूर्परावेतत् त्रयमप्यधिकः जगुः ॥
ग्रीवा स्यादपि । अभिनयदर्पण 44.

प्रकार के शिरो भिनयों का विवेचन किया है -

आकम्पितं कम्पितञ्च धुतं विधुतमेव च ।
परिवाहितमाधूतमवधूत तथाञ्चितम् ॥
निहञ्चितं परावृत्तमुत्क्षिप्त चाप्यधोगतम् ।
लोलितञ्चेति विज्ञेयं त्रयोदशविधं शिर: ॥[1]

अभिनयदर्पण में कुछ मतान्तर से विचार किया गया है । अभिनयदर्पण में नौ भेद वर्णित हैं - कम्पित, धुत, परिवाहित, परावृत्त, उत्क्षिप्त और अधोगत इन छ: भेदों का दोनों सूचियों में उल्लेख है । इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में उल्लिखित शिरभेदों की गणना में असमानता है । इसके अतिरिक्त लक्षण एवं विनियोग में भी भिन्नता है । सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिनय दर्पण में वर्णित शिरोऽभिनय नाट्यशास्त्र की तुलना में अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि उन्होंने अप्रचलित भेदों की गणना नहीं की है । अन्य ग्रन्थों यथा भरतार्णव, सङ्गीतरत्नाकर, नाट्यशास्त्रसंग्रह, अग्निपुराण इत्यादि में भी शिरोऽभिनय के भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है । आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत विवेचन पर्याप्त व्यापक है अत: उन्हीं के द्वारा विवेचित सिद्धान्तों का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है ।

<u>शिरोऽभिनय: सिद्धान्त एवं प्रयोग पक्ष</u>

शिरोऽभिनय की आकम्पित मुद्रा में मस्तक को ऊपर तथा नीचे की ओर धीरे-धीरे हिलाया जाता है । इसका प्रयोग संकेत करने अथवा प्रश्नादि करने के प्रसंग में किया जाता है । यथा - मृच्छकटिक में संवाहक माथुर से भयभीत होकर देवमन्दिर में छिपने के लिये प्रतिमा के स्थान पर खड़ा हो जाता है । तत्पश्चात् -

---

1. नाट्यशास्त्र 8/11-12.

'द्यूतकर - कथं काष्ठमयी प्रतिमा ?
माथुरः- अरे ! न खलु न खलु शैलप्रतिमा' ।[1]

यहाँ द्यूतकर द्वारा इसी मस्तकाभिनय का प्रयोग किया जायेगा । मस्तक को सीधी स्थिति में रखकर द्रुत गति से अनेक बार कम्पित किये जाने पर कम्पित मुद्रा होती है । इसका प्रयोग क्रोध, वितर्कादि में किया जाता है । मस्तक का धीरे-धीरे हिलाना धुत कहलाता है । अनिच्छा, विषाद एवं विस्मयादि में इसका विनियोजन किया जाता है । विधुत में मस्तक को हिलाने की प्रक्रिया तीव्र होती है । इसका प्रयोग शीतग्रस्तता, भयादि में किया जाता है । यथा - मृच्छकटिक में विट के द्वारा शकार के समीप वसन्तसेना को छोड़कर जाने के लिये उद्यत होने पर भयभीत वसन्तसेना के द्वारा विधुत का प्रयोग किया जायेगा -

'वसन्तसेना -(पटान्ते गृहीत्वा) शरणागतास्मि ।'[2]

दोनों पार्श्वों में मस्तक को क्रमशः कम्पित किया जायेगा तो परिवाहित एवं मस्तक को दोनों पार्श्वों की ओर तिरछा तथा एक ही बार कम्पित किया जाय तो आधूत शिरोऽभिनय होगा । मस्तक को नीचे की ओर कम्पित किया जाये तो अवधूत कहलाता है । यदि ग्रीवा को एक ओर झुका लिया जाये तो निहञ्चित मुद्रा होगी। स्त्रियों के द्वारा गर्व, विलास, बिब्बोक, ललित, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, स्तम्भ तथा मान में निहञ्चित का प्रयोग किया जाता है । रत्नावली के इस प्रसंग में वासवदत्ता के मान का अभिनय निहञ्चित शिरोऽभिनय द्वारा किया जायेगा-

---

1. मृच्छकटिक - द्वितीय अङ्क, पृ0 107.

2. मृच्छकटिक - प्रथम अङ्क, पृ0 311.

'वासवदत्ता - सविनयं पटान्तमाकर्षन्ती। आर्यपुत्र, मान्यथा संभावय। सत्यमेव मां शीर्षवेदना बाधते, तद् गमिष्यामि।'[1]

इसी प्रकार अन्य शिरोऽभिनय उत्क्षिप्त, अधोगत एवं लोलित का विनियोग विधान इनके नामानुरूप ही है।

इतना विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करने के उपरान्त भी मस्तक संचालन अनेक प्रकार से किया जा सकता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये आचार्य भरत ने लोक-प्रकृति के अनुसार यथोचित प्रयोग का निर्देश दिया है।[2]

<u>हस्ताभिनय</u>

मनुष्य के जीवन में हस्तों का अत्यधिक महत्त्व है। प्रत्येक हस्तमुद्रा कोईन कोई अर्थ अवश्य अभिव्यक्त करती है। हस्तमुद्राओं के इसी महत्त्व को दृष्टि में रखकर ही आचार्यों ने अत्यन्त विस्तार हस्ताभिनय का विवेचन किया है। नाट्यार्थों के प्रकाशन के लिये हस्ताभिनयों का प्रयोग किया जाता है।[3] हृदयस्थ भावों को इनके द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है। अतः हस्ताभिनयों का आंगिकाभिनय

---

1. रत्नावली, अङ्क 2, पृ0 141.

2. अर्थ प्रकाशकत्वात् हस्तयोः।
   बालरामभरतम् पृ0 40.

3. ये करास्त्वान्तरं भावं सूचयन्तीह ते मताः।
   नृत्ताध्याय 326.

के अन्तर्गत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है । इस अभिनय को सफल बनाने के लिये अत्यधिक प्रयत्न एवं अभ्यास की आवश्यकता है ।

मनुष्य की प्रकृति स्वभावतया परस्पर कुछ अर्थों में अवश्य ही भिन्न रहती है। प्रकृति के अनुसार ही संसार में हस्तक्रियाओं के संचालन में भी भिन्नता होती है । आचार्य भरत की सूक्ष्म दृष्टि से यह तथ्य अछूता नहीं था । इसीलिये उन्होंने सत्त्वानुरूप ही हस्त-संचालन का विधान किया है । उत्तम, मध्यम तथा अधम श्रेणी के पात्रों के लिये हस्तों की क्रियाशीलता का स्थान क्रमशः ललाट, वक्षस्थल तथा अधोभाग बताये गये हैं ।[1] भरत के स्थान-विभाजन का समर्थन भट्टतौत ने भी किया है ।[2] नृत्ताध्याय में अशोकमल्ल ने तेरह हस्तस्थानों का उल्लेख किया है ।[3] स्थानों के अतिरिक्त आचार्यों ने हाथों की गति का भी सत्त्वानुरूप ही विधान किया है । आचार्य भरत के अनुसार हस्तमुद्राओं का प्रचार ज्येष्ठ अभिनय में अल्प रहना चाहिए। मध्य में मध्यमप्रचार तथा अधम अभिनय में हस्तमुद्राओं की विपुलता होनी चाहिये ।[4]

हस्तों के संचालन के लिये स्थान-विधान अधिक उपयुक्त नहीं ज्ञात होता है । हस्त-संचालन करते समय लौकिक जीवन में स्थानों का इतना अधिक प्रतिबन्धित प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता है । आवश्यकतानुरूप ही हस्त ऊपर अथवा नीचे की ओर आते हैं । उत्तम पात्र के हस्तों का प्रयोग मात्र शीर्ष भाग तथा निम्न पात्रों के लिये हस्तों का मात्र निम्नभाग में करना असम्भव सा प्रतीत होता है । मध्यम पात्र की स्थिति भी कुछ उत्तम नहीं है । सत्त्वानुरूप हस्तों की गति-विधान अत्यन्त उपयुक्त

---

1. नाट्यशास्त्र 9/166
2. नाट्यशास्त्र भाग 2, अभिनवभारती, पृ0 66.
3. नृत्ताध्याय 605.
4. नाट्यशास्त्र 9/167.

है । मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुरूप ही हाथों की चेष्टाओं का प्रयोग करता है । लोक में भी प्राय: यह देखा जाता है कि निम्न स्तरीय जन हाथों को बिना आवश्यकता के ही प्रयुक्त करते हैं । अत: हस्त-गति-प्रचार के विधान का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि उत्तम पात्र हस्ताभिनय का अन्य अभिनयों के साथ सन्तुलन रखता है जैसा कि संगीतरत्नाकरकार ने कहा भी है -

'अल्पो हस्तप्रचार: स्यात्प्रत्यक्षे भूरितास्त्विके ।'[1]

अत: अभिनेता के लिये आवश्यक है - उत्तम प्रवृत्ति के अनुकार्य का अभिनय करते समय हस्तों का प्रयोग उतना ही करे, जितना आवश्यक हो तथा उसी प्रकार पात्रगत प्रवृत्ति को प्रदर्शित करने के लिये हस्तगतिप्रचार का आधिक्य या न्यूनता रखे ।

<u>हस्ताभिनय के भेद</u>

भरतमुनि ने हस्तमुद्राओं को तीन भागों में विभाजित किया है -

'असंयुत हस्त, संयुत हस्त तथा नृत्त हस्त ।'

इनमें असंयुत के 24, संयुतहस्त के तेरह तथा नृत्तहस्त के तीस प्रभेदों का विवेचन किया गया है । किन्तु भरत कहते हैं कि -

'चतुष्षष्टिकराह्येते नामतोऽभिहिता मया ।'[2]

नाट्यशास्त्रसंग्रह के अनुसार विप्रकीर्ण, उरोमण्डलिन् में पार्श्वमण्डलिन् और अलपल्लव में उल्बण का समावेश कर उनकी संख्या चौंसठ की जा सकती है । आचार्य भरत

---

1. संगीतरत्नाकर 7/291.
2 नाट्यशास्त्र 9/17.

स्वयं ही कहते हैं कि उन लोकप्रचलित हस्तों को भावानुसार ग्रहण करना चाहिये जिनका यहाँ पर उल्लेख नहीं किया गया है । भरत द्वारा प्रस्तुत हस्ताभिनय के प्रभेदों का उल्लेख इस प्रकार है -

<u>असंयुत हस्ताभिनय: सिद्धान्त एवं प्रयोग</u>

'असंयुत' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इस अभिनय के अन्तर्गत एक ही हाथ की मुद्राओं के विनियोग का विधान किया गया है । असंयुत हस्त मुद्रायें भरत के अनुसार इस प्रकार है - पताक, त्रिपताक, कर्तरीमुख, अर्धचन्द्र, अराल, शुक-तुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, कटकामुख, सूचीमुख, पद्मकोष, सर्पशीर्ष, मृगशीर्ष, कांगूल, अलपद्म, चतुर, भ्रमर, हंसास्य, हंस-पक्ष, सन्दंश, मुकुल, ऊर्णनाभ एवं ताम्रचूड ।[1] अभिनयदर्पण में इनकी संख्या अट्ठाईस है तथा चार पूरक मुद्राओं के योग से बत्तीस हो जाती है।[2] अन्य ग्रन्थों यथा भरतार्णव में 26, बालरामभरतम् में 40 तथा नाट्यशास्त्र संग्रह में भरत के अतिरिक्त पाँच अन्य का मतान्तर से उल्लेख प्राप्त होता है । इन सभी आचार्यों के असंयुत हस्त के विवेचन का आधार भरतकृत विवेचन है । अतः यहाँ पर भरत द्वारा विवेचित असंयुत हस्ताभिनय विनियोग विधान ही प्रस्तुत है - असंयुत हस्त की सारी क्रियायें एक ही हाथ से सम्पन्न होती हैं तथा ये हस्तमुद्रायें हस्तांगुलियों की विविध रचनाओं के द्वारा निर्मित की जाती हैं । जैसे-सभी अँगुलियों को फैलाकर यदि अँगूठे को तिरछा कर दे और उसे तर्जनी के मूल में लगा दें तो पताकहस्त मुद्रा होगी । पताक मुद्रा में हाथ के द्वारा पताका के समान मुद्रा बनाई जाती है । इस पताकहस्त को स्थान भेद के द्वारा विभिन्न अर्थों को प्रकट करने हेतु प्रयुक्त किया

---

1. नाट्यशास्त्र 9/4-10.

2. अभिनयदर्पण 9/88-171.

जा सकता है । जैसे मस्तक प्रदेश तक उठा होने पर गर्वादि तथा स्वस्तिक दशा से हटाकर नीचे की ओर ले जाने पर गोप्यादि भाव प्रकट किया जाता है । उदाहरणार्थ मृच्छकटिक में वसन्तसेना को मारने के पश्चात् शकार उसे पत्तों से ढककर छिपा देता है -

'शकार: - किमेषा मृता ?
× × × । भवतु एतेन शुष्कपर्णपुटेन प्रच्छादयामि ।'

पताक मुद्रा युक्त हाथ में अनामिका अँगुली को झुका दिया जाय तो त्रिपताक मुद्रा होती है । पताक मुद्रा की तरह ही त्रिपताक के द्वारा भी स्थानभेद से विभिन्न अर्थों को अभिव्यक्त किया जाता है । जैसे त्रिपताकमुद्रावाले हाथ में अनामिका के स्पर्श द्वारा आँसुओं का पोंछना, तिलक करना और अलकस्पर्श आदि बतलाये जाते हैं । कर्तरीमुख मुद्रा के अन्तर्गत त्रिपताक मुद्रा वाले हाथ में तर्जनी अँगुली मध्यमा के पीछे फैलाकर रखी जाती है । कर्तरीमुख मुद्रा में हाथ को कैंची की अग्रभाग के सदृश आकार प्रदान किया जाता है । स्थानविभेद से यह मुद्रा विभिन्न अर्थों को व्यक्त करती है । यह नीचे की ओर रहने पर रंगोलीरचना आदि तथा ऊपर की ओर रहने पर विलोकनादि अर्थों को व्यक्त करती है । जैसे रत्नावली के इस प्रसंग में कर्तरीमुख मुद्रा का प्रयोग किया जायेगा -

'सुसङ्गता - (वर्तिकां गृहीत्वा नाट्येन रतिव्यपदेशेन सागरिकां लिखति।

---

1. नाट्यशास्त्र 9/18.
   मृच्छकटिक, अष्टम अङ्क पृ० 442.
   नाट्यशास्त्र 9/27
   नाट्यशास्त्र 9/31

2. रत्नावली, द्वितीय अंक, पृ० 81.

यदि अंगुलियों को अँगूठे सहित धनुष की तरह झुकाकर फैला दिया जाय तब अर्धचन्द्र मुद्रा होती है । अर्धचन्द्र जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, हाथ को अर्द्धचन्द्राकार स्थिति में रखा जाता है । इसके द्वारा छोटे वृक्ष, कृशता तथा पीनता इत्यादि प्रदर्शित किये जाते हैं । अराल मुद्रा में तर्जनी झुकी हुई अँगूठा कुंचित तथा शेष अंगुलियाँ उससे पृथक ऊपर की ओर खड़ी रहे तो अराल मुद्रा होती हैं । इसके द्वारा सत्त्व गर्वादि नाट्यार्थ अभिव्यक्त होते हैं । अरालमुद्रायुक्त हाथ में अनामिका अँगुली को झुकाकर शुकतुण्ड मुद्रा बनाई जाती है । शुकतुण्ड मुद्रा में हाथ को तोते की चोंच का आकार दिया जाता है । यह मुद्रा मना करने, विदाई तथा अवज्ञापूर्वक धिक्कारना इत्यादि अर्थों को अभिव्यक्त करती है । अभिज्ञान शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में विदाई का प्रसंग आता है –

काश्यपः – ससनिःश्वासम् गच्छ । शिवास्ते पन्थानः सन्तु ।[1]

मुष्टि के द्वारा प्रहार, व्यायाम, इत्यादि का अभिनय किया जाता है । मुष्टिहस्त से अँगूठे को ऊपर की ओर उठा लिया जाय तब शिखर मुद्रा होती है । इसके द्वारा धनुष ग्रहण, पादवंदनादि अर्थ अभिव्यक्त होते हैं । कपित्थ शिखरहस्त में तर्जनी अँगुली को झुकाकर अँगूठे पर दबाकर मिला दी जाय तब कपित्थ मुद्रा कहलाती है । कपित्थ मुद्रा में हाथ को कैथे के आकार का बनाया जाता है । इसके द्वारा तलवार तथा बाण छोड़ने जैसे अर्थ प्रकट किये जाते हैं । कटकामुख में कपित्थ हस्त मुद्रा में अनामिका तथा कनिष्ठिका को ऊपर उठाकर मोड़ा जाता है । इस मुद्रा में हाथ का आकार सर्प के फण के सदृश ही रहता है । इसके द्वारा पुष्प तोड़ना तथा रास खींचना इत्यादि अर्थ व्यक्त होते हैं – स्वप्नवासवदत्तम् में पुष्पावचय का प्रसंग प्राप्त होता है –

'चेटी – भट्टदारिके । किं भूयोऽवचेष्यामि ।'[2]

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् , चतुर्थ अंक, पृ0 258.
2. स्वप्नवासवदत्तम् , चतुर्थ अंक, पृ0 104.

कटकामुखमुद्रावाले हाथ की तर्जनी को फैला दिया जाये तब सूचीमुख मुद्रा होती है । इस सूची मुख मुद्रा में हाथ की स्थिति सूची के अग्रभाग के सदृश ही रहती है । इस मुद्रा के अन्तर्गत तर्जनी की पृथक्-पृथक् चेष्टाओं के द्वारा विभिन्न अर्थ प्रस्तुत किये जाते हैं । जैसे तर्जनी के ऊर्ध्व रहने पर तारे, नासकादि तथा तर्जनी को ऊपर की हिलाने पर बिजली पताकादि अर्थ व्यक्त किये जाते हैं । अँगूठे सहित सभी अँगुलियाँ ऊपर की ओर मुँह वाली पृथक्-पृथक् कुंचित हो तो पद्मकोष मुद्रा होती है । इसके द्वारा देवार्चन, बलिप्रदानादि अर्थ व्यक्त किये जाते हैं । सर्पशीर्ष मुद्रा में सभी अंगुलियाँ अँगूठे सहित एक, दूसरे से मिली हुई तथा हथेली झुकी होती है । इसका प्रयोग सर्पगति, जलसेचन आदि में किया जाता है । मृगशीर्ष मुद्रा में कनिष्ठिका अँगुली तथा अँगूठा सीधा एवं शेष अँगुलियाँ झुके हुये मुँहवाली होती हैं । मृग के सिर भाग के सदृश ही यह हस्तमुद्रा बनती है । इसके द्वारा पासा फेंकना, स्त्रियों की कुट्टमित चेष्टायें व्यक्त की जाती हैं ।[1] यथा, तर्जनी तथा अँगूठे पृथक्-पृथक् रहें, अनामिका अँगुली टेढ़ी तथा कनिष्ठिका खड़ी रहे तो कांगुल हस्त मुद्रा होती है । इसके द्वारा छोटे फल अथवा स्त्रियों के रोषपूर्ण वचनों को प्रदर्शित किया जाता है ।[2] अलपल्लव में समस्त अँगुलियाँ हथेली में गोल आकार में रहती हैं तथा विकीर्ण रहती हैं । इसके द्वारा प्रतिषेध आदि अर्थ व्यक्त होते हैं ।[3] इसी प्रकार चतुर के द्वारा नीति विनयादि, भ्रमर के द्वारा कमल, कुमुदनी आदि, हंसास्य के द्वारा स्निग्ध, मृदुत्व, हंसपक्ष के द्वारा रसों के अनुसार स्त्रियों के रागात्मक अभिनय में विभिन्न विभ्रमों का प्रदर्शन आदि तथा सन्दंश द्वारा पुष्पों का एकत्रीकरण आदि प्रकट किया जाता है ।[4] हंसपास्य मुद्रा में हाथ को हंस के मुख के समान आकार दिया जाता है तथा हंस पक्ष में हंस के पंख के समान हाथ की स्थिति रहती है । मुकुल के द्वारा देवपूजन, अर्घनाभ

---

1. नाट्यशास्त्र 9/84-85
2. नाट्यशास्त्र 9/86-87
3. नाट्यशास्त्र 9/88-89
4. नाट्यशास्त्र 9/90-114.

के द्वारा केशग्रहण आदि, ताम्रचूड के द्वारा विश्वासदानादि प्रकट किया जाता है ।[1]

संयुतहस्ताभिनय: सिद्धान्त एवं प्रयोग

संयुत जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस मुद्रा में दोनों हाथों के संयोग से ही अर्थ की अभिव्यक्ति होती है । अत: दोनों हाथों से प्रदर्शित की जाने वाली हस्तमुद्रा ही संयुतहस्तमुद्रा है । भरत ने संयुत हस्त के 13 भेद बताये हैं -

1. अंजलि
2. कपोत
3. कर्कट
4. स्वस्तिक
5. कटकावर्धमानक
6. उत्सङ्ग
7. निषध
8. दोला
9. पुष्पपुट
10. मकर
11. गजदन्त
12. अवहित्थ
13. वर्धमान ।[2]

अभिनयदर्पण में संयुतहस्तों की संख्या 23 मिलती है । जिनमें नाट्यशास्त्रागत संयुतहस्तमुद्राओं के अतिरिक्त शिवलिङ्ग, कर्तरी, स्वस्तिक, शकट, शङ्ख, चक्रसम्पुट, पाश, कीलक, मत्स्य, कूर्म, वराह, गरुड, नागबन्ध, खट्वा तथा भेरुण्ड हस्तमुद्राओं का विवेचन प्राप्य है । संसार में ऐसा कोई भी हाथों का कार्य नहीं है जो किसी अर्थ को न व्यक्त करता हो, किन्तु भरतमुनि ने उन्हीं हस्तों की मुद्राओं का प्रयोग किया है जो लोक में अत्यधिक प्रचलित थीं । आचार्य भरत ने कहा भी है -

अन्ये वाप्यर्थसंयुक्ता लौकिका ये करास्त्विह ।
छन्दतस्ते प्रयोक्तव्या रसभावविचेष्टितैः ।।[3]

---

1. नाट्यशास्त्र 9/115-124.
2. नाट्यशास्त्र 9/8-10
3. नाट्यशास्त्र 9/157.

यहाँ पर भरत द्वारा स्वीकृत मुद्राओं का ही विवेचन किया गया है ।

संयुतहस्तमुद्रायें अनेक प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति हेतु प्रयुक्त की जाती हैं। नमस्कार या वन्दना आदि के लिये अंजलि हस्त का प्रयोग किया जाता है । उत्तर-रामचरित के प्रथम अंक में वन्दना का प्रसंग आता है -

'रामः - रघुकुलदेवते । नमस्ते ।'[1]

यहाँ पर अंजलि हस्तमुद्रा का ही प्रयोग होगा । दो सर्पशीर्ष हस्तों के परस्पर मिलाने से कपोत-मुद्रा होती है । इस मुद्रा में दोनों हाथों को मिलाकर कबूतर जैसा गोलाकार रूप दिया जाता है । इसका प्रयोग सौजन्यपूर्ण भावों के प्रदर्शन अथवा प्रणामादि के लिये किया जाता है । अभिज्ञानशाकुन्तलम् के षष्ठ अंक में इस हस्तमुद्रा के प्रयोग का उल्लेख प्राप्त होता है -

'द्वितीया - ।इति कपोतहस्तकं कृत्वा।

त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्तः कामाय गृहीतधनुषे'[2] ।

कर्कटमुद्रा का प्रयोग काम के मद को प्रकट करना अथवा जँभाई लेना इत्यादि अर्थों को प्रकट करने हेतु किया जाता है । इसमें हाथ की मुद्रा केंकड़े जैसी बनाई जाती है । विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीय अंक में उर्वशी के द्वारा प्रस्तुत प्रसंग में इसी मुद्रा का प्रयोग किया जायेगा -

'उर्वशी-।मदन वेदनां निरूप्य सलज्जम्।'[3]

स्वस्तिक के प्रदर्शन से ऋतुएँ तथा पृथ्वी इत्यादि विस्तीर्ण पदार्थों का प्रदर्शन किया जाता है । कटकावर्धमानक हस्त का प्रयोग श्रृङ्गारिक भावों के प्रकटीकरण

---

1. उत्तररामचरित, अंक 1, पृ0 42.
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक षष्ठ, पृ0 350.
3. विक्रमोर्वशीयम् , अंक 2, पृ0 175.

या प्रणामादि के लिये किया जाता है । दो कटकामुख हस्त दशाओं को स्वस्तिक की दशा में रखने पर कटकावर्धमान मुद्रा बनती है । रत्नावली में प्रस्तुत स्थल पर इसी मुद्रा का अभिनय होगा -

'राजा - "दृष्टिं रुषा क्षिपति भामिनी यद्यपीमां ।
स्निग्धेयमेष्यति तथापि न रूक्षभावम् ।।"[1]

उत्संग मुद्रा में दो अराल मुद्रा में हस्तों को ऊपर की ओर रखकर स्वस्तिक दशा में दोनों कन्धों पर रखा जाता है । इसका प्रयोग रोष, ईर्ष्या आदि में होता है । यथा रत्नावली में -

'वासवदत्ता - (सहसोपसृत्य सरोषम्) आर्यपुत्र ।
युक्तमेतत् । सदृशमेतत् ।'

मुकुल हस्तों को कपित्थ हस्त से वेष्टित करने पर निषध मुद्रा होती है । इसकी योजना संग्रह, दान, प्रतिज्ञा आदि में की जाती है । दोनों कन्धों को शिथिल रखते हुये दोनों पताकहस्तों को हिलाते हुये रखे तो करण में प्रयुक्त होने वाली यह मुद्रा दोला कहलाती है । इससे सम्भ्रम, विषादादि प्रकट किया जाता है । स्वप्नवासवदत्तम् में जब चेटी पद्मावती एवं उदयन के विवाह हेतु माला ग्रथित करने के लिये पुष्पों को वासवदत्ता को ही देती है, उस समय विषादग्रस्त वासवदत्ता के द्वारा हस्ताभिनय की इसी मुद्रा का प्रयोग किया जायेगा -

'वासवदत्ता - (आत्मगतम्) 'एतदपि मया कर्तव्यमासीत् ।
अहो अकरुणा खल्वीश्वराः'[3]

---

1. रत्नावली द्वितीय अंक, पृ0 129.
2. रत्नावली, तृतीय अंक, पृ0 95.

3. स्वप्नवासवदत्तम् अंक 3, पृ0 89.

दो सर्पशीर्ष हस्तों की अंगुलियों को सटाकर दोनों हाथों को एक दूसरे से संश्लिष्ट कर देने पर पुष्पपुट मुद्रा होती है । इससे धान्य पुष्पादि का ग्रहण सूचित किया जाता है । दो पताक हस्तों को फैलाकर एक दूसरे पर विन्यस्त कर दिया जाय तब मकर मुद्रा होती है । इस मुद्रा से हिंसक जन्तुओं का प्रदर्शन किया जाता है । गज-दन्त हस्तमुद्रा में दो सर्पशीर्ष हस्त स्वस्तिक दशा में एक दूसरे कन्धों पर रखे जाते हैं । इससे वरवधू का पाणिग्रहण, अतिभारवहनादि व्यक्त किया जाता है । दो शुकतुण्ड-हस्तों को वक्ष पर अधोमुख रखे तब अवहित्थमुद्रा होती है । इससे दुर्बलता तथा शरीर का सौन्दर्यादि प्रदर्शित किया जाता है । मालविकाग्निमित्र के -

> 'बकुलावलिका - सर्वं स्वपिनास्ति ।
> भर्तुः कपोतेषु सुन्दरपाण्डरेष्वङ्गेषु दृश्यते ।'[1]

प्रस्तुत प्रसंग में इसी हस्तमुद्रा का प्रयोग किया जायेगा । वर्धमान हस्तमुद्रा में मुकुल हस्त को कपित्थ हस्त से परिवेष्टित किया जाता है । झरोखा तथा खिड़की इत्यादि को खोलने में इसका प्रयोग किया जाता है । इस प्रकार संयुत हस्तों द्वारा सम्पादित होने वाली विभिन्न मुद्राओं का विवेचन आचार्यों ने दिया है ।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो असंयुत हस्तमुद्रायें संयुतहस्तमुद्राओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं, क्योंकि संयुत-हस्तमुद्रा दो असंयुत हस्तमुद्राओं के संयोग से ही बनती हैं । अतः संयुतहस्तमुद्राओं द्वारा प्रकट किया जाने वाला अर्थ दो असंयुतहस्तमुद्राओं के संयोग से सम्पन्न होता है । जैसे कटकावर्धमानक संयुतहस्त को दो असंयुत कटकामुख को स्वस्तिक दशा में रखकर ही सम्पन्न किया जाता है । अतः असंयुत हस्तमुद्रा भावों के प्रकटीकरण में अधिक समर्थ प्रतीत होती है, तथापि व्यव-हार की उपयोगिता के कारण भरतमुनि ने संयुतहस्तों पर पृथक् रूप से विचार करते हुये विवेचन प्रस्तुत किया है । इन्हीं का अनुकरण परवर्ती आचार्यों ने भी किया है ।

---

1. मालविकाग्निमित्र, अ0 3, पा0 101.

इन संयुत तथा असंयुत हस्तों के स्वरूप एवं विनियोग का पर्यालोचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका स्वरूप पूर्णतया नाट्यधर्मी है। लोक में इन मुद्राओं का प्रचलन यद्यपि दिखाई नहीं देता है। कुछ मुद्रायें तो चित्राभिनय का विषय प्रतीत होती है। जैसे-मकर नामक हस्तमुद्रा के द्वारा सिंह हाथी इत्यादि हिंसक जन्तुओं का प्रदर्शन।[1] इसीलिये चित्राभिनय भी आङ्गिक अभिनय ही है। इन मुद्राओं में कुछ मुद्रायें तो अवश्य लोक में प्रचलित दिखाई देती हैं। यथा -

'असंयुत हस्तमुद्रा - मुष्टि तथा संयुत हस्तमुद्रा अञ्जलि इत्यादि'[2]

तथापि अधिकांश मुद्रायें ऐसी हैं जिनका अर्थ लोक में उस समय रूढ़ रहा होगा तथा जनसाधारण को अवश्य ही उनका अर्थ ज्ञात होगा। यही कारण है कि परवर्ती काल में यही मुद्रायें कई भारतीय नृत्य पद्धतियों में स्वीकार कर ली गई, क्योंकि ये स्वरूप में नृत्य की ही मुद्रायें प्रतीत होती हैं, जो अपने स्वरूप में आकर्षक होने के साथ ही अपने अर्थों में रूढ़ भी हैं, तथा एक निश्चित अर्थ को अभिव्यक्त करती हैं।

<u>नृत्त हस्त</u>

नृत्त के अन्तर्गत शरीर का संचालन इस तरह किया जाता है कि प्रत्येक मुद्रा मोहक एवं आकर्षक हो। अतः नृत्त में विभिन्न आङ्गिक मुद्राओं का प्रयोग अर्थ या भाव की अभिव्यक्ति न होकर मात्र सौन्दर्य को निष्पन्न करना है। इसीलिये नृत्त हस्तों का प्रयोग अर्थाभिव्यक्ति या भावाभिव्यक्ति न होकर केवल सौन्दर्य की सृष्टि करना होता है।

नृत्तहस्तों की रचना संयुत तथा असंयुत हस्तों द्वारा होती है, किन्तु सूक्ष्मता की दृष्टि से इन दोनों हस्तमुद्राओं से सर्वथा भिन्न है। संयुत तथा असंयुतहस्तमुद्रायें

---

1. नाट्यशास्त्र 9/146.

2. नाट्यशास्त्र 9/54, 126.

सार्थक हैं । किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति के हेतु ही इनका प्रयोग होता है, किन्तु नृत्तहस्त मात्र शोभाधायक हैं ।

नाट्यशास्त्र में नृत्तहस्तों कीसंख्या तीस है । नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट नृत्त हस्तों की क्रमिक नामावली इस प्रकार है -

चतुरस्त्र, उद्वृत्त या तालवृन्तक, तलमुख, स्वस्तिक, विप्रकीर्ण, अराल, कटकामुख, अविद्धवक्त्र, सूचीमुख, रेचित, अर्धरेचित, उत्तानवञ्चित, पल्लव, नितम्ब, केशबन्ध, लता, करिहस्त, पक्षवंचितक, पक्षप्रद्योतक, दण्डपक्ष, ऊर्ध्व-मण्डली, पार्श्वमण्डली, उरोमण्डली, उरःपार्श्वमण्डल, मुष्टिकस्वस्तिक, नलिनीपद्मकोष, अलपल्लव, उल्बण, ललित, वलित ।[1]

ये नृत्तहस्त संयुत तथा असंयुत दोनों ही होते हैं । अभिनयदर्पण में नृत्तहस्तों की संख्या तेरह ही है । यह अपने स्वरूप में योजना तथा विवरण की दृष्टि से नाट्यशास्त्र में विवेचित नृत्तहस्तों से भिन्न हैं ।

पताक, त्रिपताक, शिखर कपित्थ अलपद्मतथा हंसास्य असंयुत हस्तमुद्रायें हैं तथा अंजलि दोला कटकावर्धमानक आदि संयुत हस्त हैं ।[2] लेकिन ये नृत्तहस्तमुद्रायें भावप्रदर्शन के लिये न होकर मात्र शोभाधायक होती हैं ।

आङ्गिक अभिनय चूँकि नाट्यार्थ की अभिव्यक्ति का ही माध्यम है अतः नृत्त-हस्तों का उल्लेख आङ्गिक अभिनय के परिप्रेक्ष्य में अप्रासङ्गिक प्रतीत होता है, क्योंकि नृत्तहस्त मात्र शोभाधायक होते हैं । अर्थाभिव्यक्ति के साधन नहीं हैं । नृत्त एवं

---

1. नाट्यशास्त्र 9/201.

2. अभिनयदर्पण, श्लोक संख्या 240,241.

नाट्य अपने स्वरूप में नितान्त भिन्न है । नाट्य रसपरक होता है तथा नाट्य में वाक्यार्थ का अभिनय होता है । इसके विपरीत नृत्त में ताल एवं लय पर आधारित अङ्ग-विक्षेप होता है, अभिनय बिल्कुल नहीं होता ।[1]

किन्तु आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत नृत्तहस्तों का विनियोग विधान अस्पष्ट है । नृत्तहस्तों का विवेचन करने के उपरान्त वे कहते हैं कि इनका प्रयोग अर्थाभिनय के प्रदर्शन में भी करना चाहिये अथवा आवश्यकतानुसार इनका प्रयोग मिश्रित भी हो सकता है, जबकि नृत्तहस्तों के विवेचन के प्रसंग में आचार्य भरत ने कहीं पर भी इन हस्तमुद्राओं के द्वारा अभिव्यक्त होने वाले अर्थों का उल्लेख तक नहीं किया है । इन हस्तमुद्राओं का नाट्याभिनय में किस तरह प्रयोग किया जायगा यह पूर्णतया अस्पष्ट है । अतः इन्हें नृत्तहस्तमुद्राओं में परिगणित करना ही अधिक उचित प्रतीत होता जो केवल अलंकरण के लिये प्रयुक्त होती हैं । जैसे चतुरस्त्र नृत्त हस्त मुद्रा में तीन अँगुलियाँ फैली हुई, कनीयसी अँगुली सीधी एवं ऊपर उठी हुई और अँगूठा संकुचित हो ऐसे हंसपक्ष मुद्रा वाले दोनों हाथों को पक्षि के समान हिलाया जाता है ।[2] यह मुद्रा मात्र सौन्दर्य सृष्टि के लिये है । इसके द्वारा कौन सा अर्थ अभिव्यक्त होगा इसका

---

1. (क) नाटकादि च रसविषयम् रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिसंसर्गात्मकवाक्यार्थ-
हेतुकत्वाद्वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वंरसाश्रयमित्यनेन दर्शितम् । नाट्यमिति च
'नट अवस्पन्दने' इति नटः किंचिच्चलनार्थत्वात्सात्त्विक बाहुल्यम् , अतएव
तत्कारिषु नटव्यपदेशः - दशरूपक; प्रकाश 1, पृ० 9.

(ख) नृत्तं ताललयाश्रयम् । तालश्च चच्चुटादिः, लयो द्रुतादि
तन्मात्रापेक्षोऽङ्गः विक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति ।
दशरूपक, प्रथम-प्रकाश, पृ० 10.

2. नाट्यशास्त्र 9/178.

कोई विवेचन नहीं है । इसी प्रकार संयुत एवं असंयुत हस्तमुद्राओं में से कुछ मुद्रायें ऐसी हैं, जो स्वाभाविक चेष्टायें नहीं कही जा सकती हैं । जैसे उत्सङ्ग संयुतहस्तमुद्रा के अन्तर्गत तर्जनी अँगुली झुकी हुई अंगूठा सकुंचित तथा शेष अँगुलियाँ उससे पृथक खड़ी हुई अर्थात् अराल मुद्रा वाले दोनों हाथों को स्वस्तिक दशा में दोनों कन्धों पर रखकर रोष, ईर्ष्या तथा अमर्षादि का प्रकटीकरण किया जाता है ।[1] अतः असंयुत एवं संयुत हस्तमुद्रायें नाट्यधर्मी प्रयोग हैं, जिनमें सौन्दर्यवर्धन के लिये कलात्मकता का सन्निवेश किया गया है । इसीलिये ये अपने स्वरूप में नृत्य अथवा नृत्त की मुद्रायें अधिक लगती हैं ।

अन्य अङ्गाभिनय

वक्ष

आचार्य भरत ने आङ्गिकाभिनय की दृष्टि से वक्षःस्थल के पाँच भेद किये हैं- आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित और सम ।[2] अन्य ग्रन्थों यथा - नृत्ताध्याय, संगीतरत्नाकर, नाट्यशास्त्रसंग्रह,[3] आदि में भरत निरूपित लक्षणों एवं विनियोगों का ही विवेचन प्राप्य है । बालरामभरतम् में कुछ अन्य भेद यथा चलित भ्रमणादि का उल्लेख है[4] पर ये भी भरत के ही अनुकरण पर हैं । नामावली के अनुरूप ही इनके लक्षण है । आभुग्न का प्रयोग मूर्च्छा शोकादि में किया जाता है । निर्भुग्न मुद्रा स्तम्भ मान, विस्मयपूर्वक अवलोकनादि में प्रयुक्त होती है । प्रकम्पित हास्य रुदनादि में, उद्वाहित दीर्घ उच्छ्वासादि में तथा सम जैसा कि नाम से स्पष्ट है स्वाभाविक दशा में प्रयुक्त होती है ।

---

1. नाट्यशास्त्र 9/138 137-138. 2. नाट्यशास्त्र 10/1

3. नृत्ताध्याय 327,
   सङ्गीतरत्नाकर 7/296-297 , नाट्यशास्त्रसंग्रह 426.

4. बालरामभरतम् पृ० 91.

<u>पार्श्व</u>

आचार्य भरत ने पार्श्वाभिनय के भी 5 भेद बताये हैं - नत, समुन्नत, प्रसारित तथा विवर्तित । अन्य आचार्यों ने भी भरत की ही मान्यता का पोषण किया है । पार्श्वाभिनयों की योजना इस प्रकार है -

> विनिवृत्ते त्वपसृतं पार्श्वमर्थवशात् भवेत् ।
> एतानि पार्श्वकर्माणि जठरस्य निबोधत ।।[1]

<u>उदर</u>

आचार्य भरत ने क्षाम, खल्व तथा पूर्ण तीन प्रकार के उदर अभिनय का निरूपण किया है । नृत्याध्याय, संगीतरत्नाकर तथा नाट्यशास्त्रसंग्रह में रिक्त पूर्ण नामक चौथे भेद का भी निरूपण किया गया है[2], जबकि बालरामभरतम् में सात भेद बताये गये हैं । ये हैं - पूर्ण, क्षाम, चल, भुग्न, कम्पित, विह्वल तथा संकोच ।[3] नामावली के अनुरूप ही इनका स्वरूप है । हास्य रुदनादि में क्षाम की तपस्या तथा क्षुधातादि स्थिति में खल्व की तथा स्थूलतादि में पूर्ण उदर की योजना होती है ।

<u>कटि</u>

आचार्य भरत ने कटि के पाँच प्रकार बताये हैं । छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता, कम्पिता, उद्वाहिता ।[4] नाट्यशास्त्रसंग्रह, नृत्याध्याय तथा संगीतरत्नाकर में भरतनिरूपित निवृत्ता को विवृत्ता कहा[5] शेष विवेचन भरत के ही अनुरूप है । बालरामभरतम् में चार अन्य नमा, चलिता, विवर्तिता, अपवाहिता का विवेचन प्राप्त है ।

---

1. नाट्यशास्त्र 10/17.
2. नाट्यशास्त्रसंग्रह 307, नृत्याध्याय 338. संगीतरत्नाकर 7/307.
3. बालरामभरतम् पृ0 95.
4. नाट्यशास्त्र, 10/21.

नामावली के अनुरूप ही इनका विनियोग है । कटिकर्म की योजना इस प्रकार है - व्यायाम में छिन्ना भ्रान्ति इत्यादि में निवृत्ता, भ्रमणादि में रेचिता नीच प्रकृति के मनुष्यों की गति में प्रकम्पिता तथा स्थूल मनुष्यों एवं स्त्रियों की ललित गति में उद्वाहिता का प्रयोग किया जाता है ।

उरु

उरु की पाँच अवस्थायें होती हैं - कम्पन, वलन, स्तम्भन, उद्वर्तन तथा विवर्तन । अन्य आचार्यों ने भरत द्वारा निरूपित मत का ही पोषण किया है । नामावली के अनुरूप ही इनका स्वरूप भी है । अधमपात्रों की गति इत्यादि में कम्पन, स्त्री की यथेच्छ गति में वलन, भय और विषाद की अवस्था में स्तम्भन, व्यायाम तथा ताण्डवनृत्य में उद्वर्तन तथा भ्रान्तादि में निवर्तन की योजना करनी चाहिये ।[1]

जंघा

जंघा की पाँच अवस्थायें होती हैं - आवर्तित, नत, क्षिप्त, उद्वाहित तथा परिवृत्त । नामावली के अनुरूप ही इनका स्वरूप भी है । विदूषक की गति में आवर्तित, स्थिति तथा आसन ग्रहण करने में नत की, व्यायाम तथा ताण्डवनृत्य में क्षिप्त की आविद्ध गति आदि में उद्वाहित की तथा ताण्डव आदि के प्रस्तुतीकरण में परिवृत्त जंघा की योजना की जाती है ।[2] नृत्याध्याय, संगीतरत्नाकरादि में इसके 10 भेद बताये गये हैं ।[3]

---

1. नाट्यशास्त्र 10/27-32
2. नाट्यशास्त्र 10/33-39
3. नृत्याध्याय 399, संगीतरत्नाकर 7/361
4. नाट्यशास्त्र 10/40-54

पादकर्म

भरत के अनुसार पादकर्म के पाँच भेद हैं उद्घट्टित, सम, अग्रतलसंचर, अंचित तथा कुंचित ।[1] नाट्यशास्त्रसंग्रह तथा संगीतरत्नाकर में भरत के अतिरिक्त 7 भेद अन्य आचार्यों के अनुसार इस प्रकार बताये गये हैं - ताडित, घट्टितोत्सेध, घट्टित, मर्दित, अग्रग पार्श्वग इत्यादि ।[2] भरतार्णव में आचार्य नन्दिकेश्वर ने बाईस प्रकार के पादकर्मों का उल्लेख किया है । इनमें छः भरतनिरूपित हैं ।[3] बालरामवर्मा ने अभिनय की दृष्टि से पाद के स्थिर तथा अस्थिर विभाजन किये हैं ।[4]

वस्तुतः पाद, जङ्घा तथा ऊरु इत्यादि का संचालन अलग-अलग न होकर एक साथ ही होता है । इन सभी की गति पादकर्म से जुड़ी हुई है अर्थात् पैरों की गति अथवा मुद्रा के अनुसार ही इनका अभिनय किया जायेगा । आचार्य भरत स्वयं कहते हैं -

यथा पादः प्रवर्तेत तथैवोरुः प्रवर्तते ।
तयोः समानकरणात् पादचारीं प्रयोजयत् ॥[5]

इस प्रकार आचार्यों द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों का अभिनय-विधान अत्यन्त विस्तार से प्रस्तुत किया गया है ।

---

1. नाट्यशास्त्र 10/40-54
2. नाट्यशास्त्रसंग्रह 473, संगीतरत्नाकर 7/15
3. भरतार्णव, 302-305.
4. बालरामभरतम् पृ0 98, 102.
5. नाट्यशास्त्र, 10/56.

<u>ग्रीवाभिनय</u>

मनुष्यों के भावों तथा व्यवहारादि के अनुसार ग्रीवा के अनेक कर्म होते हैं। सभी ग्रीवाकर्म मस्तक की क्रिया का अनुसरण करते हैं और मस्तक के कर्म ग्रीवा के कर्मों से ही प्रवृत्त होते हैं। ग्रीवाभिनय का उल्लेख नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण दोनों में ही मिलता है, किन्तु दोनों की संख्या एवं विनियोग में अन्तर हैं। आचार्य भरत ने ग्रीवा के नौ प्रकार बताये हैं - समा, नता, उन्नता त्र्यस्ता, रेचिता, कुंचिता, अंचिता, वलिता तथा विवृता। इसके विपरीत आचार्य नन्दिकेश्वर ने केवल चार ग्रीवाभिनयों का उल्लेख किया है - सुन्दरी, तिरश्चीना, परिवर्तिता, प्रकम्पिता।[1] दोनों आचार्यों के ग्रीवाकर्म में वैमत्य का कारण कालभेद ही प्रतीत होता है। परवर्ती होने के कारण आचार्य नन्दिकेश्वर ने उन्हीं कर्मों का उल्लेख किया होगा जो लोक में अधिक प्रचलित होंगे। ग्रीवा का विवेचन आचार्य भरत ने उपाङ्गों के अन्तर्गत किया है। कुछ आचार्यों ने इसकी गणना प्रत्यङ्गों में की है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में ग्रीवा के अभिनय के सात प्रकार बताये हैं - अंचित, रेचित मुक्त, विवृत, चतुर, प्रसारित तथा स्तब्ध।[2] बालरामभरतम् में ग्रीवा के दस भेदों का विवेचन मिलता है।[3] किन्तु सभी का आधार भरतकृत विवेचन ही है। नाट्यशास्त्रसंग्रह, तथ संगीत रत्नाकर इत्यादि में भरतकृत नौ भेदों का ही सम्पादन किया गया है।[4]

---

1. अभिनयदर्पण 79.
2. विष्णुधर्मोत्तरपुराण 324, 14-15.
3. बालरामभरतम्, पृ0 199.
4. नाट्यशास्त्रसंग्रह 448.
   संगीतरत्नाकर 7/329-330.

उपाङ्गाभिनय

मुख अभिनय को उपाङ्गाभिनय कहा गया है । आचार्य भरत द्वारा विवेचित उपाङ्गाभिनय ही यहाँ पर प्रस्तुत किया गया है । आचार्य भरत ने मुख अभिनय के अन्तर्गत - नेत्र, भ्रू, कर्ण, अधर, कपोल और चिबुक की परिगणना की है। उपाङ्गों में नेत्रों का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । अतः सर्वप्रथम नेत्राभिनय का ही विवेचन प्रस्तुत है -.

नेत्राभिनय

नेत्र मनुष्य के आन्तरिक भावों के प्रकटीकरण के सशक्त माध्यम हैं । नेत्र दर्पण की भाँति हैं जिनमें हृदयगत भाव पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित हो उठता है । इसीलिये आचार्य भरत ने नेत्रों की भाषा तथा भंगिमा में नाट्य को प्रतिष्ठित माना है । नाट्य की वास्तविक सफलता सहृदय की रसानुभूति करना है । अतः नेत्रों के अभिनय के द्वारा यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाता है । इसीलिये आचार्य भरत नेत्रों को विभिन्न भावों तथा रसों का आश्रयभूत मानते हैं ।[1] नेत्र रस तथा भावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के साधन हैं ।[2] उत्तरवर्ती प्राप्य नाट्यशास्त्रीयग्रन्थों की तुलना में भरत का नेत्रों का अभिनय-सम्बन्धी विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक है । यह विवेचन अत्यन्त व्यापक होने के कारण जीवन के समस्त क्षेत्रों को अपने में समाहित कर लेता है ।

भरत ने 36 प्रकार की दृष्टियों का निरूपण किया है । इनमें आठ रसजा

---

1. नाट्यशास्त्र 8/43

2. नयनादिष्वप्युपाङ्गेषु भावरसबोधकत्वसम्भवात् ।
बालरामभरतम् पृष्ठ 16.

दृष्टियाँ, आठ स्थायिभावजा दृष्टियाँ तथा बीस संचारिभावजा दृष्टियाँ हैं ।[1] अभिनयदर्पण में दृष्टि के मात्र आठ भेदों का उल्लेख प्राप्त है - सम, आलोकित, साची, प्रलोकित, निमीलित, उल्लोकित, अनुवृत्त तथा अवलोकित ।[2] नाट्यशास्त्र में नन्दिकेश्वर द्वारा परिगणित दृष्टिभेद दर्शनभेद के नाम से विवेचित है । आचार्य भरत कहते हैं -

'इत्येष दर्शनविधिः सर्वभावरसाश्रयः ।'[3]

अतः स्पष्ट है कि भरतकृत दृष्टि के अभिनय का विवेचन अत्युत्तम है । अन्य आचार्यों में भरत की दृष्टि की तीक्ष्णता का अभाव है । विभिन्न भावों को नेत्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करना एक अत्यधिक प्रयत्नसाध्य कार्य है । अतः यह विषय सात्त्विक-अभिनय का प्रतीत होता है, तथापि समस्त भाव नेत्रों की विभिन्न भंगिमाओं के माध्यम से व्यक्त किये जाते हैं । अतः आङ्गिक चेष्टाओं से सम्बद्ध होने के कारण इन्हें आङ्गिक अभिनय के अन्दर विवेचित किया गया है जो कि सर्वथा उपयुक्त है । भरतकृत दृष्टि-विवेचन इस प्रकार है -

रसाभिव्यंजक दृष्टियाँ

आचार्य भरत ने आठ रसों को अभिव्यक्त करने वाली दृष्टियों की परिगणना इस प्रकार की है । हर्ष एवं प्रसाद से उद्भूत शृंगार रस का प्रकट करने वाली दृष्टि कान्ता है । भयानक रस को अभिव्यक्त करने वाली दृष्टि भयानका है । हास्य रस को प्रकट करने वाली, आकुंचित पुटों एवं विभ्रान्त तारकों वाली दृष्टि हास्या दृष्टि है । करुण रस को अभिव्यक्त करने वाली गिरते हुये अश्रु इत्यादि लक्षणों से

---

1. नाट्यशास्त्र, 8/94
2. अभिनयदर्पण, 66
3. नाट्यशास्त्र 8/104-108.

न्विता, ग्लाना, शङ्किता, विषण्णा, मुकुला, कुंचिता, अभितप्ता, जिह्मा,ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विप्लुता, आकेकरा, विकोशा, त्रस्ता तथा मदिरा ।

इन संचारीभावजा दृष्टियों का स्वरूप एवं विनियोग इनके नाम के अनुरूप ही हैं । जैसे - किसी भी बाह्य पदार्थ को न ग्रहण करने वाली दृष्टि शून्या है । आकेकरा दृष्टि का अर्थ है - अर्धनिमीलित दृष्टि । नामानुरूप ही इसका विधान किया गया है -

> आकुञ्चित पुटापाङ्गा सङ्गतार्धनिमेषिणी ।
> मुहुर्व्यावृत्ततारा च दृष्टिराकेकरा स्मृता ॥ [1]

ऐसी दृष्टि का उल्लेख मुद्राराक्षस में मिलता है -

> 'निद्राच्छेदाभिताम्रा चिरमवतु हरेर्दृष्टिराकेकरा ।।'[2]

चिन्ता में अभितप्ता अथवा शून्या दृष्टि का प्रयोग होता है तथा शंका में शंकिता की, विषाद में विषादिनी संचारीभावजा दृष्टि का प्रयोग होता है ।

<u>अन्य नेत्राङ्ग</u>

आचार्य भरत ने अन्य नेत्राङ्ग जैसे ताराकर्म अर्थात् पुतलियों की चेष्टाओं का भी विवेचन किया है । ये ताराकर्म दो प्रकार के हैं - आत्मनिष्ठ और विषयाभिमुख । रसाभिव्यंजक आत्मनिष्ठ ताराकर्म नौ प्रकार के हैं जैसे वृत्ताकार घुमाना, त्रिकोण घुमाना, अन्दर खींचना, बाहर निकालना, ऊपर उठाना, नीचे लाना इत्यादि।

---

1. नाट्यशास्त्र 8/78
2. मुद्राराक्षस 3/21.

विविध भावाभिव्यंजक क्रियाभिमुख ताराकर्म के आठ भेद माने गये हैं, जैसे कटाक्षयुक्त परावर्तित, कभी ऊपर तथा कभी दोनों पार्श्व में ।

भरतमुनि ने पलकों के नौ प्रभेद दिखलाते हुये उसकी अभिनय-योजना दिखलाई है । जैसे निमेष, उन्मेष तथा विवर्तन की क्रोधभाव में तथा प्रसृत की हर्षभाव में इत्यादि ।

पुतलियों तथा पलकों के अनुसार होने वाले भ्रू कर्मों का उल्लेख भी नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है । जैसे-क्रोध, वितर्क, हेला, लीला, सहज अवलोकन तथा श्रवण की दशा में दोनों भ्रुकुटियों को उठाकर उत्क्षेप की योजना की जाती है । असूया, जुगुप्सा, हास तथा सुगन्धित पदार्थों के सूंघने की दशा में पातन की योजना होती है । क्रोध के विषय तथा दीप्त प्रदेश में भ्रुकुटी के दोनों मूलों को ऊपर चढ़ाकर भ्रुकुटी की योजना होती है । भ्रू कर्म के सात भेद किये गये हैं । इनका आधार इनकी विभिन्न चेष्टायें हैं ।

<u>दृष्टि कर्म : प्रयोग-पक्ष</u>

वस्तुतः नाट्य में रस चर्वणा हेतु इन सभी दृष्टियों एवं अन्य नेत्राङ्गों का समन्वित अभिनय किया जाता है । स्थायिभावजा, संचारिभावजा तारा, दर्शन, पुट और भ्रू का अभिनय भावों के स्वरूप के अनुकूल समन्वित अथवा पृथक् दोनों ही रूपों में हो सकता है । अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम का यह प्रसंग नेत्राभिनय के सन्दर्भ में दर्शनीय है -

'शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता।'

दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला की इस दृष्टि का वर्णन भी किया जाता है -

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक 1, पृ० 85.

'स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया

× × × × × × ×

सर्वं तत् किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति ॥[1]

प्रस्तुत स्थल श्रृंगार रस का प्रसंग है । अतः यहाँ पर कान्ता दृष्टि का अभिनय किया जाएगा । रतिभावजा दृष्टि का भी समन्वय होगा तथा लज्जान्विता संचारिभावजा का अभिनय भी संयुक्त होगा । ताराकर्म चूँकि कटाक्षयुक्त है, अतः विवर्तन नामक ताराकर्म होगा । दृष्टि की स्वाभाविक अवस्था होने के कारण पुटकर्म सम होगा तथा दोनों भ्रुकुटियों को थोड़े संचालन के द्वारा मधुरता के विस्तार को 'चतुर-भ्रूकर्म' के द्वारा सम्पादित किया जायेगा ।

इसी तरह अभिज्ञानशाकुन्तलम् में ही यह स्थल भी नेत्राभिनय की दृष्टि से दर्शनीय है -

'<u>राजा</u> - यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते

ततस्ततः प्रेरितवामलोचना ।

विवर्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते

भयादकामाऽपि हि दृष्टिविभ्रमम् ॥

× × × × × ×

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम् ।'[2]

भ्रमर से भयभीत शकुन्तला के नेत्र एवं नेत्राङ्गों का यहाँ पर दुष्यन्त द्वारा

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक 2, पृ० 92.
2. अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक 1, पृ० 50.

वर्णन किया है । यहाँ भय नामक स्थायीभाव को व्यक्त करने वाली भयान्विता दृष्टि है -

'विस्फारितोभयपुटा भयकम्पिता तारका ।
निष्क्रान्तमध्या दृष्टिस्तु भयभावे भयान्विता ॥'[1]

शंकिता संचारीभावजा दृष्टि का समन्वय है -

'किञ्चिच्चला स्थिरा किञ्चिदुद्गता तिर्यगायता ।
गूढा चकिततारा च शङ्किता दृष्टिरिष्यते ।।'[2]

'विवर्तनं कटाक्षेषु' अतः यहाँ पर विवर्तन नामक पुतली का कार्य भी समन्वित है -

'चतुरं किञ्चिदुच्छवातान्मधुरायतता भ्रुवो:'[3]

अतः यहाँ पर 'चतुर' नामक भ्रू कर्म है ।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् का वह प्रसंग नेत्राभिनय की दृष्टि से अत्यन्त मर्मस्पर्शी है जहाँ पर दुष्यन्त के द्वारा राजदरबार में लांछित की गई एवं गुरुशिष्य के द्वारा उच्च स्वर में पीछे आने से रोकी गई असहाय अवस्था वाली शकुन्तला की दृष्टि उसके हृदय की असीम पीड़ा को व्यक्त करती है । इस दृष्टि का उल्लेख दुष्यन्त के द्वारा इस प्रकार किया जाता है -

---

1. नाट्यशास्त्र 8/58
2. नाट्यशास्त्र 8/67
3. नाट्यशास्त्र 8/99,120.

राजा -

अतः प्रत्यादेशात् स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे ।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत् सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥ [1]

यहाँ पर विषादिनी संचारिभावजा दृष्टि का प्रयोग होगा -

'विषादविस्तीर्णपुटा पर्यस्तान्ता निमेषिणी ।
किञ्चिन्निष्टब्धतारा च कार्या दृष्टिर्विषादिनी ॥ [2]

राम के द्वारा सीता को पुनः सहधर्मिणी के रूप में स्वीकार कर लिये जाने पर सीता के हृदय में अनेक भाव एक साथ उदित होते हैं । इस अवसर पर वाल्मीकि कुश एवं लव को लेकर प्रवेश करते हैं । सभी परिवार के सदस्य एवं गुरुजनों की उपस्थिति में सीता की हृदय की गति विचित्र हो जाती है । इस स्थल पर उनके नेत्रों के द्वारा ही हृदयगत भाव प्रकट होते हैं । वाणी असमर्थ हो जाती है -

'सीता - (सहर्षकरुणाद्भुतं विलोक्य)
कथं तातः ? कथं जातौ ?

अतीत की स्मृति करुणा को उत्पन्न कर रही है, वर्तमान अत्यन्त सुखप्रद होने के कारण हर्षप्रद है तथा अपनी परिवर्तित भाग्य की गति पर आश्चर्य भी है । अतः यहाँ पर हास्या, करुणा, एवं अद्भुता तीनों ही रसाभिव्यंजक दृष्टियों का अभिनय किया जायेगा ।

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तल 6/9
2. नाट्यशास्त्र 8/68

भरतकृत सम्पूर्ण नेत्र एवं नेत्राङ्गों का विवेचन अपने आपमें अपूर्व है । दृष्टियों के कर्मों का इतना अधिक विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन भरत के प्रौढ़ ज्ञान का परिचायक ही है ।

<u>अन्य उपाङ्गाभिनय</u>

आचार्य भरत ने आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत नेत्र एवं नेत्राङ्गों के अतिरिक्त अन्य उपाङ्गों का भी विवेचन प्रस्तुत किया है । मुखमण्डल में आने वाले उपाङ्ग यथा नासिका, कपोल, अधरोष्ठ तथा चिबुक इत्यादि का लक्षण एवं विनियोग अत्यन्त सूक्ष्मता से विवेचित है । मानव के हृदय में स्थित भाव, तदनुरूप उसकी शारीरिक स्थिति क्या होती है, इसका आचार्य भरत को व्यापक ज्ञान था आचार्य भरत ने नासिका के छः प्रकार के कर्म बताये हैं - नता, मन्दा, विकृष्टा, सोच्छवासा, विकूणिता तथा स्वाभाविका ।[1] ये सभी लक्षण लोक प्रचलित स्वरूपानुरूप ही है ।[2] वस्तुतः चिन्ता, औत्सुक्य या शोकादि की अवस्था में मनुष्य की नासिका स्थिर अवस्था में ही होती है । तीव्रगन्ध, क्रोध, भय अथवा पीड़ा की अवस्था में श्वास की गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है । अतः नासिका के पुट स्वाभाविक रूप में फूल (विकृष्टा) जाते हैं । दीर्घश्वास (सोच्छवासा) लेने में श्वास को नासापुटों में खींचा जाता है। जुगुप्सा तथा असूया की स्थिति में नासापुट स्वाभाविक रूप से संकुंचित हो जाते हैं तथा सहजभाव में तो नासापुटों की 'सम' दशा होती है ।[3] इस तरह आचार्य भरत ने नासापुटों द्वारा सम्पादित किये जाने वाले विविध अभिनय-कर्मों का सम्पादन किया है ।

मानव के मुखमण्डल में कपोलों का भी अपना महत्त्व है । आचार्य भरत ने कपोलकर्म छः प्रकार के बताये हैं - क्षाम, फुल्ल, पूर्ण, कम्पित, कुञ्चित तथा सम ।[4]

---

1. नाट्यशास्त्र 8/128
2. नाट्यशास्त्र 8/129-130
3. नाट्यशास्त्र 8/131-133
4. नाट्यशास्त्र 8/137.

दुःख की अवस्था में मनुष्य कृश शरीर हो जाता है । अतः आचार्य भरत ने दुःख में क्षाम कपोल की योजना स्वीकार की है । हर्षावस्था में फुल्ल की उत्साह तथा गर्व में पूर्ण की, रोष तथा हर्ष में कम्पित की, रोमांच, स्पर्श, शीत भय तथा ज्वर में कुंचित की तथा शेषभावों में सम कपोल की योजना की जानी चाहिये ।[1]

अधरोष्ठ के अभिनय का विवेचन भी नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है - विवर्तन, कम्पन, विसर्ग, विनिगूहन सन्दष्टक तथा समुद्गक । असूया, वेदना, लज्जादि में विवर्तन, वेदना, शीत, भयादि में कम्पन, स्त्रियों के विलास, बिब्बोक तथा रंजन में विसर्ग आयास में विनिगूहन, क्रोधादि में सन्दष्टक तथा अनुकम्पा, अभिनन्दनादि में समुद्गक की योजना की जाती है ।[2]

चिबुक के कर्म सात प्रकार के विवेचित है - कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित, लेहित, सम तथा दष्ट । भय शीत तथा ज्वर में कुट्टन अर्थात् दाँतों का कड़कड़ाना, भक्षण में खण्डन, व्याधि भय, शीत व्यायामादि में छिन्न अर्थात् दाँतों को कसकर मिलाना इत्यादि दाँतों की क्रिया के अनुसार ही चिबुक के लक्षण बताये गये हैं ।[3]

आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत अङ्गों एवं उपाङ्गों का अभिनय अत्यन्त विस्तृत एवं वैज्ञानिक है । उनकी सूक्ष्म दृष्टि से कोई भी अंश अछूता नहीं रहा है । यही कारण है कि परवर्ती आचार्यों ने भरत का ही अनुकरण किया है ।

---

1. नाट्यशास्त्र 8/138

2. नाट्यशास्त्र 8/142-144

3. नाट्यशास्त्र 8/148-150.

<u>मुखराग</u>

शाखा, अङ्ग तथा उपाङ्ग के द्वारा अभिनय का अच्छी प्रकार से सम्पादन करने पर भी यदि वे मुखराग से रहित हों तो शोभा को प्राप्त नहीं करते हैं। शरीराभिनय को अल्पमात्रा में प्रस्तुत करते हुये भी यदि मुखराग के अभिनय से युक्त रखा जाय तो रात्रि में चन्द्र के समान द्विगुणित शोभा को प्राप्त करता है।[1] आचार्य भरत ने मुखराग के चार प्रकार बताये हैं - स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त तथा श्याम। स्वाभाविक मुखराग की स्वाभाविक अभिनय में, मध्यस्थ आदि भाव में, प्रसन्न मुखराग की अद्भुत, हास्य तथा श्रृंगार में, रक्त मुखराग की वीर, रौद्र रस और मद, करुण; श्याम मुखराग की भयानक तथा बीभत्स रस में योजना की जानी चाहिये।[2] विभिन्न भावों एवं रसानुकूल ही मुखराग का अभिनय विधान किया जाता है। भावप्रकाशन में मुखराग के स्वरूप को अधिक स्पष्ट किया गया है। जैसे-भावों से रहित स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत किया गया मुखराग स्वाभाविक कहलाता है। जहाँ स्मितयुक्ता बोलती हुई सी कान्ति छिटकती है तथा राग से भरे हुये स्निग्ध दृष्टि वाले नेत्र रहते हैं, वह प्रसन्न मुखराग है। जहाँ पर पसीने की बूँदें प्रायः चमकती है, रोष से नेत्र लाल रहते हैं। दोनों कपोल लाल रहते हैं, श्वास गर्म निकलती है उसे रक्त मुखराग कहते हैं। जिसमें मुख की कान्ति शुष्क हो जाती है, अधर मलिन हो जाते हैं, श्वास मन्द रहती है उसे श्याम मुखराग कहते हैं।[3]

इस प्रकार मुखराग का अभिनय रसात्मक चित्तवृत्ति के प्रकाशन हेतु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

---

1. नाट्यशास्त्र 8/165
2. नाट्यशास्त्र 8/160-162
3. भावप्रकाशन 3/104.

चारी विधान

किसी आङ्गिक चेष्टा का सम्पादन करते समय क्या केवल वही अङ्ग चेष्टा में रहता है ? अन्य अङ्गों की अवस्था उस समय कैसी होती है ? यह प्रश्न मन में सहज भाव से उठते हैं । आचार्य भरत ने इसी समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुये चारी-विधान प्रस्तुत किया है । आङ्गिक अभिनय को सम्पादित करते समय शरीर के विभिन्न अङ्ग एक विशिष्ट गतिमान अवस्था में रहते हैं । जैसे - हस्ताभिनय को सम्पादित करते समय केवल मुद्रा प्रस्तुत करने वाला हाथ ही सक्रिय अवस्था में हो यह आवश्यक नहीं है, अपितु सम्पूर्ण शरीर उस मुद्रा को पूर्णता प्रदान करने के लिये एक विशिष्ट लय में गतिमान् होगा । किसी भी आङ्गिक अभिनय का जब सम्पादन किया जाता है तब अन्य अङ्ग गौण रूप से ही उस क्रिया का अनुगमन करते हैं । चर् धातु से औणादिक इन् प्रत्यय से भिन्न 'ई' को ङीप् कर चारी शब्द निष्पन्न होता है । अतः चारी से तात्पर्य चलना या शरीर की गतिशीलता से है । एकादश अध्याय में आचार्य भरत कहते हैं - पैर, जंघा, ऊरु तथा कटि इत्यादि अंगों की एक साथ चलनात्मक चेष्टा चारी कहलाती है । क्योंकि यह विधान से युक्त होकर अंगों को परस्पर सम्बद्ध करती है अतः व्यायाम कहलाती है ।[1]

व्यायाम शब्द का अर्थ है 'व्यायच्छते' इति अर्थात् अनुगत होना इसका तात्पर्य यह हुआ कि शरीर के विभिन्न चारी अंग एक दूसरे का अनुकरण करते हैं । आचार्य भरत ने चारी-विधान का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करके मानों अभिनेता की महती समस्या का हल प्रस्तुत कर दिया है । चारी के महत्त्व को इंगित करते हुये आचार्य भरत ने कहा भी है कि 'नाट्य' के रूप में जो भी वर्णित है, उसे चारी में ही समाविष्ट

---

1. एवं पादस्य जङ्घाया ऊरोः कट्यास्तथैव च ।
   समानकरणे चेष्टा चारीति परिकीर्तिता ॥
   विधानोपगताश्चार्यो व्यायच्छन्ते परस्परम् ।
   यस्मादङ्गसमायुक्तास्तस्माद् व्यायाम उच्यते ॥
   नाट्यशास्त्र 11/1-2.

समझना चाहिये, क्योंकि कोई भी नाट्य का विभाग चारी के बिना नहीं हो सकता ।[1]

चारीविधान नाट्यशास्त्र में 2 प्रकार के बताये गये हैं । भौमी चारी तथा आकाशिकी चारी । भौमी चारी से तात्पर्य है भूमि पर सम्पादित होने वाले क्रियाकलाप तथा आकाशिकी चारी से तात्पर्य है आकाश की ओर उन्मुख होकर सम्पादित किये जाने वाले क्रिया-कलाप ।

नाट्यशास्त्र में भौमीचारी तथा आकाशिकी चारी के बत्तीस प्रकार बताये हैं । नृत्याध्याय में भरतनिरूपित चारियों के अतिरिक्त 35 देशी भूमि चारी और 19 देशी आकाशिकी चारी एवं 25 मुख्यचारियाँ बतायी हैं ।[2] संगीतरत्नाकर में 86 चारियों का उल्लेख है ।[3] नाट्यशास्त्रसंग्रह में चारियों के दो विभाग किये गये हैं - मार्गचारी तथा देशीचारी मार्गचारी के सोलह भौमी और सोलह आकाशिकी भेदों का उल्लेख किया है । देशी चारी के पैंतीस देशी भौमी और उन्नीस देशी आकाशिकी भेद बताये हैं ।[4] भरतार्णव में आचार्य नन्दिकेश्वर ने सोलह भौमी चारी और आकाशचारी बताई है ।[5] अभिनयदर्पण में चारी के आठ प्रकार बताये गये हैं।[6] भरत द्वारा निरूपित चारियाँ ही अन्य आचार्यों द्वारा विवेचन की आधारशिला है ।

---

1. नाट्यशास्त्र 11/ 6
2. नृत्याध्याय 954-969, 1083-1087
3. संगीतरत्नाकर 7/902-916
4. नाट्यशास्त्रसंग्रह भाग 2, पृ0 68
5. भरतार्णव 498-501
6. अभिनयदर्पण 298-300.

भरत द्वारा परिगणित सोलह भौमी चारियाँ इस प्रकार हैं - समपादा, स्थितावर्ता, शकटास्या, अध्यर्धिका, चाषगति, विच्यवा, एलकाक्रीडिता, बद्धा, ऊरुद्वृत्ता, अड्डिता, उत्स्यन्दिता, जनिता, स्यन्दिता, अपस्यन्दिता, समोत्सारित मत्तल्ली तथा मत्तल्ली ।[1]

भौमी चारी का प्रयोग मुख्य रूप से करणाश्रित नृत्य तथा द्वन्द्व युद्ध में होता है ।[2] आकाशिकी चारी 16 प्रकार की होती हैं - अतिक्रान्ता, अपक्रान्ता, पार्श्वक्रान्ता, ऊर्ध्वजानु, सूची नुपुरपादिका, डोलपादा, आक्षिप्ता, आविद्धा, उद्वृत्ता, विद्युद्भ्रान्ता, अलाता, भुजंगत्रासिता, हरिणीप्लुता दण्डा तथा भ्रमरी ।[3] आकाशिकी चारी का प्रयोग ललित आङ्गिक क्रियाओं के प्रसंग में तथा धनुष, वज्र, असि आदि शस्त्रों के चलाने के युद्धगत व्यापार में किया जाता है ।[4]

इस प्रकार चारी के द्वारा नृत्त तो व्याप्त है ही, गति तथा शस्त्रों का फेंकना, युद्ध करना इत्यादि अर्थों की अभिव्यक्ति भी चारी के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है ।

<u>स्थान</u>

पादविक्षेप के अनुसार ही शरीर की स्थिति परिवर्तित होती रहती है । अतः तदनुरूप शारीरिक स्थिति को बतलाने के लिये ही स्थानकों का विवेचन किया गया है । 'स्थान' शब्द भाव, अधिकरण या करण अर्थ में व्युत्पन्न है - स्थीयते अत्र इति स्थानानि, तिष्ठन्त्येषु इति स्थानानि, तिष्ठन्त्येभिरिति स्थानानि । अतः स्थानक के द्वारा कायसन्निवेश होता है ।[5]

---

1. नाट्यशास्त्र 11/8-9
2. एता भौम्यः स्मृताश्चार्यो नियुद्ध करणाश्रयाः नाट्यशास्त्र, 11/29.
3. नाट्यशास्त्र 11/10-13.
4. नाट्यशास्त्र 11/50
5. नाट्यशास्त्र भाग 2, अभिनवभारती पृ० 107.

स्थानकों के तीन विभाग किये गये हैं - स्थित, उपविष्ट और सुप्त स्थानक।[1] स्थित स्थानकों के अन्तर्गत स्त्री तथा पुरुष पात्रों की रङ्गमंच पर विश्राम की अवस्था में खड़े होने की विभिन्न मुद्राओं का विवेचन किया गया है । पुरुष पात्रों के 6 प्रकार के तथा स्त्रियों के तीन प्रकार के स्थानकों का निरूपण किया गया है । पुरुष पात्रों के लिये स्थित स्थानक ये हैं - वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, आलीढ़, प्रत्यालीढ़ ।[2] स्त्री पात्रों के लिये तीन स्थानक है - आयत, अवहित्थ तथा अश्वक्रान्त ।[3]

भरत के द्वारा रंगमंच पर बैठने के लिये नौ प्रकार के उपविष्ट स्थानक बताये हैं । इन स्थानकों का आधार आन्तरिक मनोदशा तथा विविध क्रियायें हैं । मानसिक स्थिति के अनुकूल ही मनुष्य के बैठने की मुद्रा होती है । जैसे - शोकभाव में चिबुक को दोनों हाथों का सहारा देकर सिर को कन्धे पर सहारा देते हुये शरीर स्थित रहता है । इसी प्रकार स्वस्थदशा, विचारावस्था, मूर्च्छा, व्याधि, लज्जा, धार्मिकक्रिया आदि में बैठने की क्रिया पृथक्-पृथक् होती है अतः तदनुकूल ही उपविष्ट स्थानकों का विवेचन किया गया है । इसी प्रकार रंगमंच पर सुप्तावस्था का प्रदर्शन करने के लिये छः प्रकार के सुप्तस्थानक-आकुंचित, सम, प्रसारित, विवर्तित, उद्वाहित और नत हैं ।[4] शयनावस्था में यद्यपि शरीर चेष्टारहित होता है तथापि शयनावस्था उसकी आन्तरिक मनोदशा को संकेतित करती हैं तथा विविध भावों को प्रकट करती है । जैसे ठण्ड में ठिठुरते हुए मनुष्य की शयनावस्था आकुंचित ही होगी ।[5] आनन्दयुक्त निश्चिन्तता निद्रा की अवस्था में जंघाओं को प्रसारित करके सोने से 'प्रसारित -

---

1. स्थानकानि त्रिधा भवन्ति - नाट्यशास्त्रसंग्रह, भाग 2, पृ0 3.
2. नाट्यशास्त्र 11/51, विष्णुपुराण 3.21.1
3. नाट्यशास्त्र 13/160
4. नाट्यशास्त्र 13/121
5. नाट्यशास्त्र 13/222, संगीतरत्नाकर 7.1107 नृत्याध्याय 945.

'स्थान' का प्रयोग होता है।[1] आलस्य, श्रम इत्यादि की दशा का प्रदर्शन करने के लिये 'नत-स्थान' का अभिनय होगा अर्थात् दोनों जङ्घायें थोड़ी प्रसारित तथा दोनों हाथ शिथिल अवस्था में होंगे।[2] इस प्रकार इन सम्पूर्ण स्थानकों का भरतकृत विवेचन अभिनय सामग्री की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है।

गतिविधान

प्रत्येक जीव की सत्त्व तथा प्रकृति के अनुरूप ही गति प्रचार होता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का प्रथम प्रभाव किसी के ऊपर उसके क्रियाकलापों से ही पड़ता है। व्यक्ति की चेष्टायें ही उसके उत्तम या अधम होने की सूचक होती हैं। यही अन्तर्दृष्टि रखकर ही आचार्य भरत ने उत्तम, मध्यम एवं अधम श्रेणी के पात्रों का गति-प्रचार विधान का विवेचन पृथक्-पृथक् प्रस्तुत किया है। गुण एवं सत्त्व के अनुरूप उत्तमपात्रों में परिगणनीय राजा, मंत्री, वणिक् तपस्वी के गतिप्रचार का विधान किया गया है। शारीरिक स्थिति के अनुरूप वृद्ध, स्थूल, कृश, मत्त, उन्मत्त, पङ्गु, वामन, कुब्ज एवं अन्य पुरुष इत्यादि का गति प्रचार होता है। शकार, चेट, विदूषक, कंचुकी तथा दास पात्रों की गतियों का विवेचन भी प्राप्य है। गतिविधान के अन्तर्गत पुरुष और स्त्री पात्रों की गति के साथ ही विभिन्न रसों, अवस्थाओं और ताल, कला और लय का विवेचन भी किया गया है। मनुष्य की मनःस्थिति, अवस्था एवं काल आदि में परिवर्तन के साथ ही उसकी गति परिवर्तित हो जाती है। पात्रों के प्रवेश काल से लेकर निष्क्रमणकाल तक की विभिन्न गतियों का विस्तृत विवेचन किया गया है।[3]

---

1. नाट्यशास्त्र 13/224, संगीतरत्नाकर 7.1108
   नृत्याध्याय 946, नाट्यशास्त्रसंग्रह 76-77.

2. नाट्यशास्त्र 13/227, विष्णुपुराण 3.21.7
   संगीतरत्नाकर 1110-11.

3. नाट्यशास्त्र 13/4-13.

गति में पादक्षेप अर्थात् पैरों की दूरी उत्तमपात्रों के लिये चार ताल, मध्यम पात्रों के लिये दो ताल और अधम पात्रों के लिये एक ताल बताई गई है ।[1] पादक्षेप में कला (समय) उत्तमपात्रों के लिये चार कला मध्यम पात्रों के लिये दो कला एवं अधम पात्रों के लिये एक कला का समय रखना चाहिये ।[2] इसी प्रकार लय में भी विभिन्नता होती है ।[3] वस्तुतः यह विश्लेषण अत्यधिक तात्विक है क्योंकि उत्तम प्रकृति के पात्रों की चेष्टाओं में गम्भीरता एवं शिष्टता होती है अतः उनकी चेष्टायें अन्य प्रकृति के पात्रों की अपेक्षा मन्दगति से गम्भीरता युक्त होती है ।

मनुष्य की आन्तरिक मनोदशा भी उसके बाह्य व्यवहार को निर्देशित तथा प्रभावित करती है । अतः आचार्य भरत ने विभिन्न रसों के अनुकूल गति प्रचार का विवेचन किया है ।

रस एवं गति प्रचार - सिद्धान्त एवं प्रयोग

मनुष्य के हृदयस्थ भाव उसकी शारीरिक गतिविधियों द्वारा प्रकट होते हैं । मनुष्य के हृदय का दुःख या आनन्द का उसकी शारीरिक चेष्टायें स्पष्ट रूप से संकेत कर देती हैं । जैसे श्रृंगार रस में व्यक्तित्व के अनुरूप ही कायिक चेष्टायें होंगी । अप्रच्छन्न मनुष्य के मन में आनन्द का अतिरेक होने के कारण निसर्गतः उसकी गति में ललित भाव आ जाता है, उसके सभी अंग सौष्ठव से युक्त हो जाते हैं । उसकी गति लय एवं ताल से युक्त हो जाती है ।[4] इसके विपरीत प्रच्छन्न कामी, जिसके हृदय में भेद खुलने का भय व्याप्त रहता है, उसका शरीर निश्चय ही मन की भययुक्त दशा के

---

1. नाट्यशास्त्र 13/9
2. नाट्यशास्त्र 13/10-11
3. नाट्यशास्त्र 13/12-13
4. नाट्यशास्त्र 13/41-44

कारण कम्पित होगा तथा पैर लड़खड़ाते रहेंगे ।[1] इसी प्रकार रौद्ररस में भावानुरूप गति चंड रहेगी ।[2] बीभत्स रस में पात्र की गति संकुचित रहती है, क्योंकि उसके मन में जुगुप्सा की भावना व्याप्त रहती है ।[3] वीर रस की गति उत्तम तथा वीर पुरुषों की स्वाभाविक गति है तथापि उत्साह का भाव होने से उत्तम पात्रों की गति में पैरों को शीघ्रतापूर्वक उठाकर आगे बढ़ाया जाता है । इसी तरह विस्मय तथा हर्ष में मध्यम तथा अधम पात्रों की पैरों की गति लड़खड़ाती हुई रहती है ।[4] करुण रस में अधम तथा स्त्री-पात्रों की पैरों की गति शिथिल रहती है । उत्तम पात्र की गति दुःख के आवेग में भी धैर्ययुक्त होती है, आँसुओं के साथ निःश्वास तथा ऊपर देखते हुये होती है, किन्तु शरीर-सौष्ठव का लक्षण नहीं होता है जबकि मध्यम पात्रों की गति घूर्णपद की स्थिति में होती है ।[5] भयानक रस में स्त्री तथा सत्वहीन मनुष्य पैरों को शीघ्रता से चंचल या अस्थिर गति से ही रखते हैं ।[6] इस प्रकार भरत के द्वारा प्रस्तुत रसानुसारी गति-विधान अत्यन्त मनोवैज्ञानिक एवं सार-युक्त है तथा मनुष्य की अन्तःप्रकृति एवं बाह्य प्रकृति के समन्वय की स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करती है। इस सन्दर्भ के प्रयोग द्रष्टव्य हैं, जैसे मृच्छकटिकम् में अभिसारिका के रूप में वसन्तसेना का चारुदत्त से मिलने जाने पर उसके मन स्थित रति का भाव होने के कारण उसकी गति ललित तथा अंग सौष्ठव से युक्त होंगी -

'वसन्तसेना - जलधर निर्लज्जस्त्वं यन्मां दयितस्य वेश्म गच्छन्तीम् ।
स्तनितेन भीषयित्वा धाराहस्तैः परामृशसि ।।

---

1. नाट्यशास्त्र 13/45-47
2. नाट्यशास्त्र 13/55-56
3. नाट्यशास्त्र 13/57-58
4. नाट्यशास्त्र 13/60
5. नाट्यशास्त्र 13/61-62
6. नाट्यशास्त्र 13/70-75
7. मृच्छकटिकम् 5/28.

इसके विपरीत रत्नावली में प्रच्छन्न रूप वाली सागरिका की गति में उसके पैर अस्थिर होंगे, क्योंकि उसका हृदय भेद खुलने के भय के कारण शंकायुक्त है -

> 'सागरिका - (सोद्वेगम्) दिष्ट्या। नाहमनेन विरचितदेवीवेषेणास्या चित्रशालिकाया निष्क्रामन्ती केनापि लक्षितास्मि ।'[1]

वीर रस की गति में पैरों को शीघ्रतापूर्वक उठाकर बढ़ाया जाता है - उत्तररामचरित में लव की इसी तरह की गति उस समय द्रष्टव्य है, जबकि चन्द्रकेतु उसे युद्ध में चुनौती देता है -

> लव (सहर्षसम्भ्रमं परावृत्य। अहो ! महानुभावस्य प्रसन्नकर्कशा वीरवचनप्रयुक्तिर्विकर्तनकुलकुमारस्य ! तत् किमेभिरेनमेव तावत् सम्भावयामि ।[2]

आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत गति विधान अभिनेता के लिये अत्यन्त उपयोगी है साथ ही यह निर्देशक को भी अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है ।

देश एवं काल के अनुसार गति प्रचार सिद्धान्त एवं प्रयोग

नाट्य जीवन का ही प्रतिबिम्ब-स्वरूप होता है । किन्तु नाट्य एक कलात्मक प्रस्तुतीकरण है, अतः रंगमंच पर यथार्थ जीवन की प्रत्येक वस्तु को यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है । इसीलिये नाट्य में नाट्यधर्मिता का आश्रय लिया जाता है । तत्कालीन समाज में रथ का प्रयोग एक अत्यन्त लोकप्रिय चलन था, किन्तु इसको रंगमंच पर प्रस्तुत करना दुष्कर कार्य है । आचार्य भरत ने इसके लिये आहार्य विधि प्रस्तुत की, जिसका विवेचन आहार्याभिनय के अन्तर्गत किया गया है । इन रथ अथवा नौका इत्यादि जो वास्तविक नहीं है पर आरोहण अथवा

---

1. रत्नावली अंक 3, पृ0 185.
2. उत्तररामचरित, अंक 5, पृ0 265.

अवतरण का अभिनय करना सरल कार्य नहीं है । इसीलिये आचार्य भरत ने इन दशाओं में गति-प्रचार के लिये विभिन्न संकेतों तथा प्रतीकों को माध्यम बनाया है । जिनके द्वारा ये नाट्यार्थ अभिव्यक्त हो सकें । भरत का विवेचन अत्यन्त व्यापक एवं सूक्ष्म है । यथा अन्धकार में पात्र की गति सामान्य अवस्था से पर्याप्त भिन्न हो जाती है । उसके पैर लड़खड़ाते रहेंगे तथा व्यक्ति हाथों से टटोलकर रास्ता ढूढ़ता है ।[1] इस तरह का प्रयोग मृच्छकटिक के प्रथम अंक में प्राप्त होता है। प्रस्तुत स्थल पर विट द्वारा इसी गति का अभिनय किया जायेगा -

'विट: - अहो बलवानन्धकार: । तथाहि

आलोकविशाला मे सहसा तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना ।
उन्मीलितापि दृष्टिर्निमीलितेवान्धकारेण ॥

रथ अथवा विमान पर आरोहण व अवरोहण में गति एक ही रहती है । रथ पर आरूढ़ अथवा आरोहण करने वाले पात्र की गति स्वाभाविक गति में चूर्ण पदों द्वारा प्रदर्शित की जाती है । वह समपाद स्थान के द्वारा रथ की गति सूचित करता है । हाथों में धनुष तथा कूबर धारण करता है । इस तरह का प्रयोग अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में मिलता है जहाँ पर रथारूढ़ दुष्यन्त का प्रवेश होता है।[3] आकाश-गमन में पात्र की गति चूर्ण पद में होती है तथा आकाशावतरण में गति सीधे या लम्बे, ऊँचे, नीचे या अव्यवस्थित घूमते हुये कदमों को भरते हुये प्रदर्शित की जाती है ।[4]

---

1. नाट्यशास्त्र 13/87
2. मृच्छकटिक 1/33
3. अभिज्ञानशाकुन्तलम् अंक 1, पृ0 14.
4. नाट्यशास्त्र 13/93-94.

उन्नतप्रदेशारोहण यथा प्रासाद, वृक्ष तथा पर्वत इत्यादि पर आरोहण या अवरोहण की कथावस्तु के अनुरूप आवश्यकता पड़ती है । प्रासादारोहण तथा पर्वतारोहण में गति समान होती है । अतिक्रान्ता चारी के पैरों द्वारा शरीर को ऊपर उठाते हुये प्रासाद की सीढ़ी पर चढ़ना चाहिये । प्रासादावतरण में वही गति भिन्न हो जाती है, क्योंकि शरीर आगे की ओर झुक जाता है । एक पैर तो अतिक्रान्ताचारी में ही रहेगा, किन्तु दूसरा पैर अंचित गति में होगा ।[1] प्रासादावतरण के अनुकूल ही नदी में अवतरण होगा । चूँकि जल का प्रदर्शन भी करना होता है, अतः वस्त्रों को उठाते हुये अथवा गहराई होने पर शरीर को झुकाकर हाथों को हिलाते हुये अभिनय किया जाता है ।[2] नौका से यात्रा करने वाले पात्र की गति द्रुत चूर्ण पदों से होती है ।[3] अश्व पर आरोहण करते हुये पात्र की स्थिति वैशाख स्थान तथा चूर्ण पदों से प्रदर्शित की जाती है ।[4]

इस प्रकार देश एवं कालानुसारी अभिनय पूर्णतया नाट्यधर्मी होते हुये भी लोकस्वभावानुसारी हैं । यह सम्पूर्ण विवेचन अभिनेता एवं निर्देशक के लिये अत्यन्त उपयोगी है ।

अवस्था एवं तत्त्वानुरूप गति - सिद्धान्त एवं प्रयोग

नाट्य में कथावस्तु के अनुरूप ही पात्रों का सर्जन होता है । अतः कथावस्तु के अनुसार पात्रों की अवस्था एवं उनका सामाजिक स्तर प्रकट किया जाता है।

---

1. नाट्यशास्त्र 13/9698
2. नाट्यशास्त्र 13/101-102
3. नाट्यशास्त्र 13/105/107

4. नाट्यशास्त्र 13/108.

सामाजिक स्तर पर प्रतिष्ठित व्यक्ति राजा तथा मन्त्री इत्यादि की गति उत्तम स्तर की होगी । इसके विपरीत विट चेट इत्यादि की गति उत्तम पात्रों की अपेक्षा निम्न ही होगी । इस विषय पर भी भरत के द्वारा विशिष्ट विवरण प्राप्त है जैसे विट पात्र की गति ललित विलासित होती है ।[1] विट नामक पात्र मृच्छकटिकम् में प्राप्त होता है ।[2] कंचुकी जो कि अन्त:पुर का रक्षक होता है वय के अनुरूप उसकी गति भी होती है । युवा कंचुकी की गति अर्ध ताल पर उठने वाले सीधे पैरों से साधारण होती है ।[3] अवृद्ध कंचुकी का उल्लेख स्वप्नवासवदत्तम् में मिलता है ।[4] वही कंचुकी यदि वृद्ध होगा तब उसकी गति मन्द होगी जिसमें शरीर को घुमाते हुये तथा धीरे-धीरे पैरों को उठाते हुये लकड़ी पर शरीर को टिकाकर पग रखे जाते हैं । इस तरह के कंचुकी का प्रयोग अभिज्ञान शाकुन्तलम् में मिलता है ।[5] इसी तरह कृश, व्याधिग्रस्त तथा श्रान्त की गति का भी विवरण प्राप्य है ।[6] स्थूल व्यक्ति स्वभावत: चलने से श्रान्त हो जाता है । अत: उसकी गति मन्द एवं शारीरिक स्थिति श्रान्त ही होगी ।[7] मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना की माँ को अतिस्थूल काय दिखाया गया है -

> 'विदूषक: - अहो अपविश्वाकिन्या उदरविस्तार: । तत् किम् एतां प्रवेश्य महादेवमिव द्वारशोभा इह गेहे निर्मिता ।'[8]

---

1. नाट्यशास्त्र, 19-110-11.
2. मृच्छकटिकम् अंक प्रथम पृ0 55.
3. नाट्यशास्त्र 19/112-113.
4. स्वप्नवासवदत्तम् अंक 1, पृ0 30.
5. अभिज्ञानशाकुन्तलम् अंक 6, पृ0 352.
6. नाट्यशास्त्र, 13/115-117
7. नाट्यशास्त्र, 13/119-20
8. मृच्छकटिक, अंक 4, पृ0 244.

वहाँ पर इसी तरह की गति प्रदर्शित करनी होगी । मद्यपान के पश्चात् भी उत्तम पात्र, मध्यम एवं अधम पात्रों की गतियों में भिन्नता रहती ही है । उन्मत्त पात्र के पैरों की गति के साथ ही अनियन्त्रित दशा में होगी अव्यवस्थित रूप में पैरों की गति के साथ ही हाथों को हिलाते हुये प्रदर्शन होगा । इसी प्रकार लँगड़े, लूले, पंगु एवं वामन पात्रों की गतियों का विवरण प्राप्य है । संस्कृत नाटकों में विदूषक एक महत्वपूर्ण पात्र हैं । अतः विदूषक की गति का विवरण भी मिलता है । इस पात्र की स्वाभाविक अवस्था में रहने वाली गति में बायें हाथ में कुटिलक होता है तथा दाहिने हाथ से 'चतुर' मुद्रा का प्रदर्शन होता है । इसके अतिरिक्त वह अपने एक पार्श्व मस्तक तथा हाथ पैरों को लय एवं ताल के अनुसार झुकाता हुआ चलता है ।[1]

विदूषक की इस स्वाभाविक गति के अतिरिक्त दूसरी विकारज गति भी होती है जो अलभ्य भक्ष्य या मूल्यवान वस्तु के प्राप्त होने पर होती है ।[2] इस तरह की अवस्था वाले विदूषक का प्रयोग रत्नावली के तृतीय अंक - 'विदूषकः (कटकं परिधाय आत्मानं निर्वर्ण्य) भोः इमं तावत्सुवर्णकटकमण्डितहस्तमात्मनो ब्राह्मण्यै गत्वा दर्शयिष्यामि ।'[3] में मिलता है । दासादि की गति चारों ओर घूमते हुये एवं पार्श्व, सिर, हाथ या पैर झुकाते हैं और उनकी आँखें विभिन्न वस्तुओं पर झिलने वाली होनी चाहिये ।[4] शकार की गति अहंकारपूर्ण होती है । इस पात्र का प्रयोग मृच्छकटिकम् में मिलता है ।[5] निम्न कुल में उत्पन्न पात्रों की गति

---

1. नाट्यशास्त्र 13/143-145.
2. नाट्यशास्त्र 13/145.
3. रत्नावली, अंक 3, पृ0 157.
4. नाट्यशास्त्र 13/146-47.
5. मृच्छकटिकम् अंक 1, पृ0 56.

चारों ओर आँखों को घुमाते हुये तथा दूसरों से शरीर को सिकुड़ा कर स्पर्श न करते हुये चलने वाली रखनी चाहिये ।[1] यह विधान तत्कालीन समाज में जाति व्यवस्था के स्वरूप पर प्रकाश डालता है । वर्णव्यवस्था का रूप विकृत होकर जाति-व्यवस्था में परिवर्तित हो चुका था । म्लेच्छों का तथा पुलिन्द्र, शबर आदि जातियों की गति उनके आचार, जाति, स्वभाव तथा देश के अनुसार रखनी चाहिये । अभिनय को स्वाभाविक एवं सहज ग्राह्य बनाने के लिये यह निर्देश अत्यन्त उचित एवं आवश्यक भी है ।

मनुष्येतर पक्षियों तथा हिंस पशुओं इत्यादि की गति, उनकी प्रकृति तथा चेष्टाओं के अनुसार प्रदर्शित की जाती है । सिंह, रीछ, वानर जैसे पात्रों की गति आलीढ़ स्थान को प्रदर्शित कर शरीर को उसी गति के अनुसार रखे । एक हाथ को घुटने पर तथा दूसरे को वक्षस्थल पर रखकर चारों ओर एक बार ठुड्डी को कन्धे पर रखते हुये तथा क्रूर दृष्टि से देखते हुये एवं पैरों को पाँच ताल के अन्तर से रखते हुये चलना चाहिये । रत्नावली के द्वितीय अंक में -

'सुसंगता - एष खलु दधिमत्तकम्पटो सारिका-
पञ्जरमुद्घाटयापक्रान्तो दुष्टवानरः ।'[3]

वानर के प्रयोग में पुस्तरचना विधि से तैयार या चित्रांकित वानर का प्रयोग से अर्थसिद्धि न होगी । अतः निश्चित ही यहाँ प्रतीकात्मक अभिनय से ही अर्थाभिव्यक्ति हो सकती है । इस प्रकार सम्पूर्ण विवरण के पर्यवेक्षण से स्पष्ट होता है कि आचार्य भरत का गति-प्रचार-विधान अत्यन्त तात्त्विक एवं सूक्ष्म है, तथापि आचार्य भरत ने निर्देश दिया है कि यदि मेरे द्वारा कोई विवरण न दिया गया हो तो उन्हें स्वयं बुद्धि द्वारा लोक-व्यवहार को देखते हुये प्रदर्शित करना चाहिये ।[4]

1. नाट्यशास्त्र 13/151.
2. नाट्यशास्त्र 13/154-56.
3. रत्नावली, अंक 2, पृ0 89.
4. नाट्यशास्त्र 13/159.

नारी-गति-विधान

भरत ने नारी-पात्रों के गति-विधान का भी विवेचन प्रस्तुत किया । वय तथा स्तर के अनुरूप नारी-पात्रों का गति विधान अत्यन्त सुरुचिपूर्ण है । स्त्रियों के भाषण तथा गति के समय 3 स्थान होते हैं -

1. अवहित्थ ;
2. आयत एवं
3. अवक्रान्त ।[1]

आयत स्थान की योजना निमन्त्रण देने, पुकारने, आवाहन, विदाई करने, छल कपट करने, रंगमंच पर सर्वप्रथम प्रवेश करने, रंगमंच पर पुष्पांजलि बिखेरने, मौन, मान इत्यादि में की जाती है । आयत मुद्रा में दाहिना पैर सम, बायाँ पैर तिरछा होकर एक ताल के अन्तर से एक बाजू उठा हुआ तथा बायीं ओर कमर उठी हुई होती है । अवहित्थ स्थान की योजना स्त्रियों के स्वाभाविक संलाप, निश्चय अतिहर्ष, वितर्क लज्जायुक्त होने, विलास, लीला, बिब्बोक, शृंगार तथा इनके सदृश अन्य रसों के प्रदर्शित करने तथा प्रियतम की बाट जोहने में की जाती है ।[2] अवहित्थ स्थान में बायाँ पैर 'सम', दाहिना पैर तिरछा होकर एक बाजू में रखा हुआ तथा कमर बायीं ओर उठी हुई रखी जाती है ।[3] अवक्रान्तस्थान में एक पैर उठा हुआ दूसरा पैर 'अग्रतल' संचर स्थिति में सूची या आविद्धा चारी में हो सकता है । इस स्थान के द्वारा वृक्ष की टहनी को छूने, गुच्छे को ग्रहण करने अथवा पात्र के विश्राम लेने तथा स्त्रियों के किसी प्रयोजन को उसके अर्थानुसार प्रदर्शन किया जाता है ।[4] किन्तु ये स्थान चेष्टा के प्रारम्भ होने के पूर्व ही प्रदर्शित किये जाते हैं ।

---

1. नाट्यशास्त्र 13/160
2. नाट्यशास्त्र 13/161-164
3. नाट्यशास्त्र 13/165-167
4. नाट्यशास्त्र 13/168-169.

स्त्रियों की गतियाँ उनकी अवस्था के अनुसार अत्यन्त भिन्न-भिन्न होती हैं। युवावस्था में नारी की गति में विशिष्ट लालित्य होता है। इसी लालित्य के विस्तार के लिये आचार्य भरत ने युवा नारी के लिये अनेक तरह की गतियाँ बताई हैं। स्त्रियाँ स्वभाव से ही कोमल होती हैं। इसीलिये आचार्य भरत ने छः या आठ कला के प्रमाण वाले डगों का निषेध किया है। वय एवं अवस्था के अनुसार स्त्रियों की गतियाँ पृथक्-पृथक् होती हैं। युवती स्त्री सर्वप्रथम अवहित्थ का प्रदर्शन करे, तत्पश्चात् बांयी भुजा को नीचे की ओर रखकर तथा दाहिना हाथ कटकामुख वाली मुद्रा में नाभि पर रखे। पुनः ललित संचर पाद को एक ताल के प्रमाण पर उठाये और उसे बायें पैर के पार्श्व में रखे, फिर दाहिने बाये हाथ को उसी समय 'लता' मुद्रा में नाभि पर रखकर दाहिने पार्श्व को झुकाये, दाहिने हाथ को उद्वेष्टित मुद्रा में करें पुनः बायें पैर को आगे बढ़ाये और दाहिने हाथ को लता मुद्रा में रखे, पुनः शरीर को थोड़ा झुकाकर तथा मस्तक को उद्वाहित मुद्रा में रखते हुये पाँच कदम चले।[1]

प्रौढ़ा स्त्री की गति युवती की अपेक्षा भिन्न होती है। इनको अवहित्थ स्थान को बाएँ हाथ को कटि पर तथा दाहिने हाथ को अराल मुद्रा में ऊपर की ओर मुँह करते हुये, नाभि तथा स्तनों के मध्य रखते हुये, प्रदर्शित करने के पश्चात् शरीर को ढीला, स्थिर रखकर चलना चाहिये।[2]

दासियों की स्थिति निम्न स्तर की होने के कारण इन दोनों से भिन्न होती है। इनकी गति भ्रान्ति के कारण ऊपर देखते हुये रखी जाती है। ये शरीर को थोड़ा ऊँचा करके भुजाओं को घुमाती रहे। ये अवहित्थ स्थान को बायें हाथ को नीचे तथा दाहिने हाथ को कटकामुख मुद्रा में रखते हुये प्रदर्शित करते हुये गमन करे।[3]

---

1. नाट्यशास्त्र 13/172-176.
2. नाट्यशास्त्र 13/180-181.
3. नाट्यशास्त्र 13/182-183.

निम्न कुलोत्पन्न पुलिन्द, भील आदि अनार्य जातियों की स्त्रियाँ उनकी जाति के अनुकूल ही होंगी । संन्यासिनी या आकाशगामिनी दिव्य स्त्री की गति में तत्पाद चारी प्रयुक्त होती है । आचार्य भरत ने उद्धृत प्रकार के विधान का स्त्री-पात्रों में निर्देश किया है ।

आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत स्त्रियों का गति-विधान अत्यन्त विस्तृत है । विभिन्न वय एवं अवस्था वाली स्त्रियों का गति-विधान उपयोगी है, क्योंकि स्त्री की गति ही उसकी वय एवं अवस्था का संकेत दे देगी । लोक में भी वय एवं अवस्था के अनुरूप ही गति में वैभिन्न्य प्राप्त होता है । अत: यह स्त्री-गति-विधान अत्यन्त वैज्ञानिक है ।

<u>भूमिका-विपर्यय</u>

भूमिका विपर्यय में पात्र द्वारा अत्यधिक कुशलता की आवश्यकता होती है। इसीलिये आचार्य भरत ने इस प्रसंग का विवेचन करते हुये स्पष्ट किया है कि स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक पात्र जिस भूमिका में उतरे उसी के अनुरूप उन्हें गति में परिवर्तन करना पड़ेगा । स्त्री पुरुष का अभिनय करते समय धैर्य, औदार्य, सत्त्व बुद्धि और उपयुक्त वेष, वचन तथा कार्यों का प्रदर्शन करें । इसी प्रकार पुरुष स्त्री का अभिनय करते समय स्त्री के वेष तथा भाषण, उसी के अनुसार कभी किसी वस्तु के देखने तथा न देखने की क्रियाओं द्वारा कोमल तथा मन्द गति का प्रदर्शन करे । मालतीमाधव-नाटक में माधव का मित्र मकरन्द षड्यन्त्र से मालती का वेष धारण करके पद्मावती नरेश के नर्मसचिव नन्दन से विवाह करता है । यहाँ पर उसकी गति नन्दन को भ्रमित करने के लिये स्त्री के अनुकूल ही होगी । इस प्रकार भरत के विवेचन से तत्का-लीन उन्नत नाट्य कला के दर्शन होते हैं ।

<u>आसन-विधान</u>

जिस प्रकार मनुष्य की आन्तरिक मन:स्थिति या उसकी अवस्था उसकी गति

को निर्देशित करती है, उसी प्रकार उसका आसन भी प्रभावित होता है । आचार्य भरत ने इसीलिये विभिन्न भावों एवं प्रसंगानुकूल आसन का भी विधान किया है ।

स्वस्थ दशा में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह विश्रामावस्था में बैठेगा । आचार्य भरत ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं कि दोनों पैरों को वैशाखस्थान में फैलाकर सुन्दरता से रखे । पीठ तनी हुई तथा दोनों पिंडली के ऊपर रखे । विचारावस्था में व्यक्ति का मस्तक एक ओर झुका हुआ रहता है । शोकावस्था में ठुड्डी दोनों हाथों पर रखी रहे तथा मस्तक दोनों भुजाओं के सहारे रहना चाहिये । मूर्छा, मद, श्रम, ग्लानि तथा विषाद की दशा में दोनों भुजाओं को फैलाकर ढीला छोड़ दिया जाता है और किसी वस्तु का आश्रय लेकर बैठना पड़ता है । लज्जा, निद्रा आदि में पैर और घुटनों के बीच शरीर को संकुचित करके रखना चाहिये । पितरों के तर्पण करने, मन्त्र जपने, सन्ध्या करने तथा आचमन में ध्यान की मुद्रा का अनुसरण करना चाहिये । मानिनी प्रिया को रिझाने तथा होमादि धार्मिक विधि सम्पन्न करने की दशा में पुरुष अपने फैले हुए घुटनों को पृथ्वी पर रखे और नीचा मुँह करके बैठे । रत्नावली में राजा का मानिनी वासवदत्ता को प्रसन्न करने में यही आसन होगा -

'राजा - ॥उपविश्याञ्जलिं बद्ध्वा॥ प्रिये वासवदत्ते । प्रसीद प्रसीद ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मनुष्य की मानसिक स्थिति के अनुरूप ही आसन का विधान किया गया है, जो सर्वथा उपयुक्त है ।

विभिन्न पात्रों के लिये निर्धारित आसनों से तत्कालीन सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । चूँकि देवता एवं राजा श्रेष्ठ माने जाते थे । अतः उनके लिये सिंहासन का विधान है । पुरोहित तथा अमात्यों के लिये वेत्रासन, सेनापति तथा युवराज के लिये मुण्डासन, ब्राह्मण जो स्वभाव से ही पवित्र माना जाता था उसके लिये लकड़ी के आसन का विधान था तथा राजकुमारों

के लिये कुथासन (गल्लीचे सा आसन) की व्यवस्था थी । यह सारा विधान राज सभा को दृष्टिकोण में रखकर किया गया है । इसी प्रकार स्त्री-पात्रों के लिये भी आसन-विधान प्राप्त होता है । जैसे-पटरानी के लिये सिंहासन, अन्य रानियों को मुण्डासन इत्यादि । भरत के अनुसार आसन का यही नियम आभ्यन्तर तथा बाह्य परिवेश के लिये निर्धारित है, तथापि घर में रहने पर स्वतन्त्रता रहती है । यहाँ पर भरत का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि घर में मनुष्य हर समय आसन-विधान के नियमों का पालन नहीं कर सकता है । अतः सुविधा की दृष्टि से उसे घर में स्वतन्त्रता मिलनी ही चाहिये । नाट्य की प्रस्तुति को स्वाभाविक बनाने के लिये यह निर्देश अत्यन्त उपयुक्त है । विद्वान् तथा आदरणीय उच्च स्थान पाने के योग्य हैं किन्तु यदि यात्रा प्रसंग में सामान्य लोगों के साथ बराबर स्थान पर बैठने पर दोष नहीं ।

भरत द्वारा प्रस्तुत आसन-विधान मानव के हृदय की अवस्था एवं तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति के अनुकूल है । मानवीय हृदय की स्थितियाँ देश एवं काल-भेद के होने पर भी परिवर्तित नहीं होती, अतः भावानुसारी आसनविधान आज भी प्रासंगिक है ।

सामाजिक एवं राजनीतिक स्थित्यनुकूल आसन विधान आहार्याभिनय का विषय ही प्रतीत होते हैं ।

<u>शयनावस्था में शरीर की स्थितियाँ</u>

कथावस्तु के अनुरूप अभिनय में शयन की स्थितियाँ भी आती हैं । अतः आचार्य भरत ने छः स्थितियों का विवेचन किया है -

1. आकुंचित	3. प्रसारित	5. उद्वाहित तथा
2. सम	4. विवर्तित	6. नत ।[1]

---

1. नाट्यशास्त्र 13/221-226.

इनकी कार्य प्रणाली नामानुरूप ही है । अत: स्थिति के अनुकूल ही शयन-विधान है । सम शयनावस्था में स्थिति इस प्रकार होती है -

उत्तानमुखञ्चैव प्रत्यङ्मुक्तकरन्तथा ।
समं नाम प्रसुप्तस्य स्थानकं संविधीयते ॥[1]

मृच्छकटिक में शयनावस्था का प्रसंग है -

शर्विलक: -

निःश्वासोऽस्य न शङ्कितः सुविशदः तुल्यान्तरं वर्तते
दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला ।
गात्रंस्रस्तशरीरसन्धिशिथिलं शय्याप्रमाणाधिकं
दीपञ्चापि न मर्षयेदभिमुखं स्याल्लक्ष्यसुप्तं यदि ॥[2]

यहाँ पर सम शयनावस्था का अभिनय होगा ।

ठण्ड के कारण मनुष्य आकुंचित अवस्था में ही शयन करता है तथा निश्चिन्तता में प्रसारित अवस्था में । शयनावस्था में शरीर की स्थितियों का विवेचन भरत की अभिनय-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि का परिचायक है । शयनावस्था में मानव का शरीर निश्चेष्ट अवस्था में रहता है । अत: प्रश्न उठता है कि यहाँ पर अभिनय कैसे किया जायेगा ? इसी समस्या का समाधान आचार्य भरत ने मानों प्रस्तुत कर दिया है कि विभिन्न शारीरिक स्थितियों में शयन करना ही शयनावस्था में हृदय के भावों के प्रकटीकरण का एकमात्र माध्यम है ।

---

1. नाट्यशास्त्र 13/223
2. मृच्छकटिकम् 3/18.

<u>निष्कर्ष</u>

अभिनय के अन्य भेदों की अपेक्षा आङ्गिक अभिनय का ही विवेचन भरत के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने किया है । आङ्गिक अभिनय को परिश्रम एवं अभ्यास के द्वारा कुशलतापूर्वक सम्पादित किया जा सकता है । इसी कारण आचार्यों ने आङ्गिक अभिनय को सर्वोत्तम स्थान प्रदान नहीं किया है । आचार्य भरत चारी-विधान के प्रसंग में व्यायाम शब्द का प्रयोग करते हैं । इससे भी आङ्गिक अभिनय की श्रमसाध्यता सिद्ध होती है । आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत अभिनेता का विशिष्ट प्रतिभा से युक्त होना अथवा मन का समाहित होना आवश्यक नहीं है । आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत किया गया हस्ताभिनय का विवेचन स्वाभाविक आङ्गिक चेष्टाओं का प्रतिपादन नहीं है । उसके अन्तर्गत कलात्मक हस्तमुद्राओं का विवेचन है, जो कि नृत्त की मुद्रायें ही जान पड़ती हैं ; तथापि अन्य अङ्गों का अभिनय-विवेचन ।यथा दृष्टि-विधान अथवा गति-विधान आदि। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं तथा मनुष्य के जीवन की स्वाभाविक चेष्टाओं पर ही आधारित है ।

--------::0::--------

पंचम - अध्याय

वाचिक - अभिनय

सिद्धान्त एवं प्रयोग

पंचम - अध्याय

वाचिक - अभिनय

सिद्धान्त एवं प्रयोग

वाचिक अभिनय

वागभिनय अर्थात् 'वागेवाभिनयः वाणी ही अभिनय है । वाचिक-अभिनय अपनी सार्थकता के लिये जहाँ शब्द से सम्बन्धित होने के कारण पदबंध, वाक्य-विन्यास और व्याकरणिक संरचनाओं पर निर्भर करता है, दूसरी ओर रंगकर्म से सम्बन्धित होने के कारण वाणी, स्वर-शैली, आरोह-अवरोह, इत्यादि का अवलम्बन करता है । वाचिक अभिनय के द्वारा शब्द जो केवल श्रव्य थे वे मूर्त होकर दृश्य एवं श्रव्य दोनों को पूर्णत्व प्रदान करते हैं । सम्पूर्ण रंगकर्म से अन्वित वाचिक अभिनय नाट्य को सार्थकता प्रदान करता है । इस प्रकार वाचिक अभिनय के दो पक्ष हैं - पहला पक्ष, जिसका सम्बन्ध पदबन्ध-रचना से है, जिसके प्रति कवि या निर्देशक उत्तरदायी है । दूसरा पक्ष अङ्गचेष्टा से सम्बन्धित है, जिसके अन्तर्गत उच्चारणशैली, तारत्व इत्यादि आते हैं, और जिनका सम्बन्ध अभिनेता से है । दोनों ही पक्ष अपने में अतिशय महत्त्वपूर्ण हैं । यद्यपि यह कहा जा सकता है कि मूक अभिनय के माध्यम से भी नाट्यार्थ का सम्प्रेषण किया जा सकता है, तथापि वाचिक अभिनय का महत्त्व न्यून नहीं हो सकता है, क्योंकि एक पक्ष अर्थात् कवि-रचना ही नाट्य का आधार होगी तथा संवाद भी कवि-लिखित ही होंगे । इसीलिये आचार्य भरत ने जहाँ शब्द को नाट्य-कलेवर कहकर उसे यत्नपूर्वक सँवारने की बात कही है, वहीं वागभिनय को नाट्यार्थ की व्यंजना का मूल आधार घोषित किया है -

> 'वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता ।
> अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ।।'[1]

अतः सिद्ध है कि नाट्य में वाणी के माध्यम से ही संवादों का कथन और

---

1. नाट्यशास्त्र 15/2.

काव्य की प्रस्तुति की जाती है ।[1] इस वाचिक अभिनय में रस और भावों के अनुरूप वाणी का अनुसरण किया जाता है ।[2]

इस प्रकार नाट्य की प्रस्तुति को आधार प्रदान करने के कारण एवं लिखित संवादों को कथन के रूप मूर्तता प्रदान करने कारण वाचिक - अभिनय अपने स्वरूप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । वाचिक अभिनय के सन्दर्भ में भरत ने जो व्यापक दृष्टि अपनाई है, वही इसके महत्त्व को अधिक समृद्ध करती है ।

वाचिक अभिनय के अन्तर्गत परिगणित किये जाने वाले समस्त तत्त्वों का आचार्य भरत ने विस्तार से विवेचन किया है । यह विवेचन इस प्रकार है -

शब्द विधान

आचार्य भरत ने पद-बंध के पूर्व शब्द विधान का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ किया है । उन्होंने अकारादि चौदह-स्वर, 'क' से 'ह' तक व्यंजन वर्ण, स्थान, प्रयत्न, घोष, अघोष, वर्ण, नाम (संज्ञा), आख्यात (क्रिया) निपात, उपसर्ग, तद्धित, समास, सन्धि आदि का प्रतिपादन किया है । इससे आचार्य भरत के व्यापक ज्ञान एवं तत्कालीन विकसित परम्परा का परिचय भी मिलता है ।

पद बन्ध

वाचिक अभिनय के पाठ्य रूप को आचार्य भरत ने दो भागों में विभक्त किया है - संस्कृत तथा प्राकृत । पदबन्ध काव्य की उत्पत्ति का हेतु होता है -विभक्त्यन्त।

---

1. (क) वागारम्भो वाचिकः । अग्निपुराण, 342/2

(ख) वाचा विरचितः काव्यनाटकादि तु वाचिकः । अभिनयदर्पण /39

2. वाचिकोऽभिनयो वाचां यथाभावमनुक्रिया । नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक, वृत्तिभाग, पृष्ठ 191.

पद दो प्रकार का होता है निबद्ध तथा चूर्णपद । चूर्णपद में निश्चित प्रकार के पदों की संयोजना नहीं होती है तथा अक्षरों की संख्या नियत नहीं होती है तथा अपने उद्दिष्टार्थ को प्रकट करने के लिये अनेक वर्ण या पदों को स्वतंत्रतापूर्वक समाविष्ट कर सकता है । इसके विपरीत निबद्ध पद में पदों तथा अक्षरों का निश्चित क्रम के अनुसार गठन होता है । यह यतिसमन्वित होता है तथा इसमें अक्षर संख्या का निश्चित प्रमाण होता है ।

पद्य-रचना

पद्य या छन्द के दो प्रभेद किये गये हैं - जाति तथा वृत्त । इनमें मात्राओं पर आधारित पाद वाले छन्द को जाति कहते हैं । द्वितीय अक्षरों की गणना पर आधारित पाद वाले छन्द वृत्त या वार्णिक वृत्त कहलाते हैं । भरत तथा पिङ्गल दोनों ने जातिछन्द के आर्या, पथ्या, विपुला, चपला, मुखचपला जघनचपला पाँच भेद परिकल्पित किये हैं । आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत किसी प्राचीन आचार्य के मतानुसार जातिवृत्तों के पूर्वापर गण की परिगणना के अनुसार इस छन्द के सहस्त्रों भेद हो जाते हैं ।[1] (अ०भा० भाग 2, पृ० 292) । मात्राओं के भेद से जाति छन्द के गीति और उपगीति ये 2 भेद होते हैं ।

वर्णिक छन्द में अक्षरों की संख्या को नियतक्रम तथा त्रिकों या गणों के आधार पर विधान किया गया है । प्रत्येक त्रिक या गण में गुरु-लघु वर्ण नियत रहते हैं तथा प्रत्येक छन्द में गण से युक्त या नियत 'पाद' रखे जाते हैं । भरतमुनि ने भी इन गणादि का विवरण दिया है -

आदिगुरु भगण (S I I) सर्वगुरु मगण (S S S) मध्यगुरु जगण (I S I) अन्तगुरु सगण (I I S) मध्यलघु रगण (S I S) अन्तलघु तगण (S S I) आदिलघु यगण (I S S) तथा सर्वलघु नगण (I I I)।

गुरु अक्षर का संकेत 'ग' (S तथा ‿) तथा लघु का संकेत 'ल' अक्षर ।ऽया ।

1. अभिनव भारती, भाग-2, पृ०292।

तथा —) है छन्दों में त्रिकों के स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत रूप के तथा ध्वनि के तार, मन्द्र, मध्य भेद की परिगणना के भेद या दृष्टि से छन्दों के पादों को लेकर, सम, विषम तथा अर्धसम वृत्त के भेद बन जाते हैं । यह वर्णिक वृत्त के प्रभेद हैं ।

<u>छन्दः प्रभेद</u>

आचार्य भरत ने छन्दों के प्रभेद का विवेचन किया है । सभी वर्णवृत्तों की तीन श्रेणियाँ होती हैं दिव्य, दिव्येतर तथा मानुष । गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, त्रिष्टुप् तथा जगती, दिव्य श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं । अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अत्यष्टि, धृति तथा अतिधृति द्वितीय श्रेणी में गिने जाते हैं । कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति, तथा उत्कृति दिव्य-मानुष श्रेणी के होते हैं । भरतमुनि तथा अभिनवगुप्तपाद ने इस प्रकार प्रस्तार भेद छन्दों के अनन्तप्रभेद की ओर भी इंगित किया है । विभिन्न छन्दों की परिगणना तथा स्वरूप आदि का विवरण नाट्यशास्त्र में उदाहरण सहित मिलता है ।

<u>पद्य एवं सम्प्रेषणीयता</u>

गद्य की अपेक्षा पद्य-रचना सम्प्रेषण का अः उपयुक्त माध्यम है । पद्य-रचना वस्तुतः भावातिरेक में ही कवि की लेखनी से उद्भूत होती है, किन्तु यह भी सत्य है कि नाट्य में पद्य का अतिरेक सम्प्रेषण में बाधक बन जाता है क्योंकि संवाद ही अर्थाभिव्यक्ति के साधन होते हैं । भारतीय नाट्य-पद्धति में पद-रचना का जो विधान आचार्य भरत ने प्रस्तुत किया है वह एक परम्पराप्राप्त विधा ही है जो भरत के समय तक अत्यन्त पुष्ट हो चुकी थी ।

कुछ नाटककारों ने गद्य के अतिरिक्त पद्यों में भी संवाद तत्त्व को निक्षिप्त किया है । इसके अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं उनमें भासकृत 'प्रतिमानाटकम्' का यह उदाहरण विशेष रूप से द्रष्टव्य है -

<u>भरत:</u> - पितुर्मे को व्याधिः,

<u>सारथिः</u> - हृदयपरितापो खलु महान् ।

<u>भरत:</u> - किमाहुस्तं वैद्याः,

<u>सारथिः</u> -न खलु भिषजस्तत्र निपुणाः ।

मृच्छकटिक में चारुदत्त एवं आर्यक का पद्यात्मक संवाद अत्युत्तम बन पड़ा है-

चारुदत्त - क्षेमेण व्रज बान्धवान्

आर्यकः - ननु मया लब्धो भवान् बान्धवः

चारुदत्तः - स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरेषु भवता

आर्यकः - स्वात्मापि विस्मर्यते

चारुदत्तः - त्वां रक्षन्तु पथि प्रयान्तममराः

आर्यकः - संरक्षितोऽहं त्वया

चारुदत्तः - स्वैर्भाग्यैः परिरक्षितोऽसि

आर्यकः - ननु हे तत्रापि हेतुर्भवान् ।[2]

पद्यरचना का सहज आकर्षण जो उसके गीतिभाव के कारण होता है दर्शक के हृदय को आवर्जित करता है । आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इसीलिये कहा भी है - "अतएव भयानके, शान्ते, हास्ये वा यथायोगं संवेदन-स्पन्दतां चर्व्यमाण स्वादतारूप्य-कृतो विभागो वृत्तानां मन्तव्यः ।"[3]

---

1. प्रतिमानाटकम्
2. मृच्छकटिकम् 7/7
3. अभिनवभारती, भाग 2, पृष्ठ 345.

कतिपय प्रयोगों के द्वारा इसकी पुष्टि हो जाती है - 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द, जिसका उल्लेख नाट्य-शास्त्र में मिलता है, का अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला के पतिगृहगमन के समय भावाभिव्यक्ति के लिये अभिराम प्रयोग है। लोकव्यवहार से अनभिज्ञ शकुन्तला को तात काश्यप अत्यन्त सार्थक उपदेश अत्यन्त अल्प शब्दों में ही प्रदान करते हैं -

काश्यप:

शुश्रूषस्व गुरून् प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।[1]

इसकी रसानुकूलता एवं सारगर्भिता अतिप्रसिद्ध है। आलोचकों के उद्गार ही प्रमाण हैं - काव्येषु नाटकं रम्यं ------ तत्र श्लोकचतुष्टयम्।

अतः पद्य के द्वारा मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति सफलता के साथ की जा सकती है।

भास के नाटकों में नाट्यशास्त्र में प्रोक्त इक्कीस छन्दों का प्रयोग मिलता है। स्वप्नवासवदत्तम् में घोषवती वीणा के दर्शन से उदयन का चिरप्रसुप्त भाव जागृत हो उठता है। उसकी भावविह्वलता का सम्प्रेषण पुष्पिताग्रा छन्द के माध्यम से भलीभाँति हो जाता है -

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/18.

श्रुतिसुखनिनदे । कथं नु देव्याः
स्तनयुगले जघनस्थले च सुप्ता ।
विहगगणरजोविकीर्णदण्डा
प्रतिभयमध्युषिताऽस्यरण्यवासम् ॥[1]

मुद्राराक्षस[2] में चाणक्य के गर्व की अभिव्यक्तियाँ आर्या छन्द में पूर्णरूप से हो जाती है -

'<u>चाणक्यः</u> -

नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहुलनीलधूमलताम् । -
अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे ॥'

उत्तररामचरित के तृतीय अंक में वासन्ती एवं राम का वार्तालाप का प्रसंग आता है । वासन्ती राम के द्वारा सीता परित्याग के कारण अत्यन्त क्षुब्ध है । अतः वह मर्मस्पर्शी शब्दों में राम को उलाहना देती है । उसकी वाणी में छिपा तीक्ष्ण व्यंग पद्य में और भी अधिक मर्मभेदी हो उठता है । वसन्ततिलका छन्द में ये भाव व्यक्त किये गये हैं -

'वासन्ती - त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥[3]

---

1. स्वप्नवासवदत्तम् 6/1

2. मुद्राराक्षसम् 1/9

3. उत्तररामचरित, 3/26.

उपजाति वृत्त की परम्परा अभिनवगुप्त को भट्टतोत से प्राप्त हुई है । अभिनवगुप्त की पाठ-परम्परा के अनुसार छत्तीस लक्षण परिगणित हैं - भूषण, अक्षर, संहति, शोभा, अभिमान, गुण-प्रकीर्तन, प्रोत्साहन, उदाहरण, निरुक्त, गुणानुवाद अतिशय, सहेतु, सारूप्य, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, पदोच्चय, आक्रन्द, मनोरथ, आख्यान, याच्ञा, प्रतिषेध, पृच्छा, दृष्टान्त, निर्भासन, संशय, आशीः, प्रियोक्तिः, कपट क्षमा, प्राप्ति, पश्चात्तपन, अर्थानुवृत्ति, उपपत्ति, युक्ति, कार्य, अनुनीति, परिदेवन । इन लक्षणों से अन्वित काव्य अथवा नाट्य अपने सहज सौन्दर्य से सहृदय समाज को आकर्षित करता है ।

नाट्य-शास्त्र की भिन्न पाठ-परम्परा के अनुसार उत्तरवर्ती आचार्यों की गणना में पर्याप्त भिन्नता है । भोज ने स्वकल्पित 12 लक्षणों को अतिरिक्त रूप में लेकर लक्षणों की संख्या 64 मानी है । शारदातनय ने भी इन लक्षणों से भिन्न अन्य 11 लक्षणों का उल्लेख किया है ।

लक्षण का स्वरूप

लक्षणों की नामावली के अनुरूप ही उनके विनियोग का विधान है । आचार्य भरत के पश्चात् आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से लक्षणों की व्याख्या प्रस्तुत की । कुछ आचार्यों ने नाट्य के सद्धर्म के रूप में लक्षणों को परिभाषित किया । इसके विपरीत कुछ आचार्यों ने आचार्य अभिनवगुप्त ने लक्षणों के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । उन्होंने अपने पूर्वाचार्यों द्वारा व्यक्त विचारों की समीक्षा भी की है । उनके विवेचन से लक्षण परम्परा में क्रमशः लक्षण के स्वरूप के सम्बन्ध में परिवर्तित होती हुई विचारधारा का स्पष्ट आभास प्राप्त होता है । लक्षण अलंकारों से पृथक् हैं । अलंकारों से युक्त भी काव्य, लक्षणों के बिना सुशोभित नहीं होता है - 'शरीरनिष्ठमेव यत्पदं पृथक् सिद्धं तल्लक्षणम् , येन शरीरस्य सौन्दर्यं जायते । ..... एतदेव लक्षणं तच्चाप्यलङ्क्रियते । अलङ्कारैर्युक्तं काव्यं लक्षणैर्विना न शोभते ।[1]

1. नाट्यशास्त्र, अध्याय 16, अभिनवभारती भाग 2, पृ0 1252, का0हि0वि0सं0.

कतिपय आचार्य इतिवृत्त के अंशों को ही सन्धियों के अंग, वृत्तियों के अंग और लक्षण कहते हैं । बीजभूत अर्थ का क्रम से निर्वाह करने वाला लक्षण ही है । फल की सिद्धि की उपपत्ति के कारण वही अर्थ प्रत्येक सन्धि का अंग कहा जाता है । इस प्रकार लक्षण नाट्य कथा के तद्धर्म ही है ।

कुछ आचार्यों के अनुसार चित्तवृत्त्यात्मक रस को लक्षित करता हुआ, जो भिन्न-भिन्न रस के योग्य विभावादि वैचित्र्य का सम्पादन करता है । वह त्रिविध अभिधा-व्यापार ही लक्षण है ।[1]

अन्य आचार्यों द्वारा प्रस्तुत मतों के अतिरिक्त आचार्य अभिनवगुप्त ने लक्षण के महत्त्व को इस तरह व्यक्त किया है - 'समस्त अर्थालंकारों के बीजभूत एवं कथाशरीर में विचित्रता को ला देने वाले वक्रोक्ति रूप चमत्कारों का लक्षण शब्द से व्यवहार होता है । लक्षण, गुण एवं अलंकारों की महिमा की परवाह नहीं करते और अपने सौभाग्य से सुशोभित होते हैं । अलंकार तो रत्ननिर्मित आभरणादि की तरह है, जिनके बिना पुरुष एवं नायिका अपने सौन्दर्य से सुशोभित नहीं होते हैं । गुण तो धैर्यादि की तरह प्रवृत्ति से द्योतित होता हुआ काव्यगत शब्द और अर्थ की रचना के आश्रय से रहता है । जैसे - लक्षणों से रहित पुरुष को सुन्दर शब्द से नहीं कह सकते हैं उसी तरह कथा शरीर गुण एवं अलंकारों से उज्ज्वल हुआ भी नीरसता को प्राप्त करने के कारण प्रौढ़ काव्य शब्द से अभिधान योग्य नहीं है । कथाशरीरसम्पन्न काव्य में ही न कि मुक्तकादि लघुकाव्यों में लक्षणों का सम्पादन होता है ।[2]

---

1. नाट्यशास्त्र, अध्याय 16.
   अभिनवभारती, भाग 2, पृ0 1258.

2. नाट्यशास्त्र, अध्याय 16.
   अभिनवभारती, पृ0 1343.

<u>अलङ्कार</u>

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलङ्कृती ।।

जयदेव ॥13वीं शती॥ का यह कथन अलङ्कारों के महत्त्व की ओर इंगित करता है । वस्तुतः अलङ्कारों का प्रयोग तो वैदिक संस्कृत में ही प्राप्त होते हैं । भारतीय संस्कृत-काव्यशास्त्र-परम्परा में अलङ्कार शब्द का प्रयोग व्यापक एवं संकुचित दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । अलङ्कार का व्यापक अर्थ अर्थात् काव्य को सुशोभित करने वाला के अर्थ में आचार्य वामन इत्यादि ने स्वीकार किया है। अलङ्कार अपने सङ्कुचित अर्थ अर्थात् काव्य-सौन्दर्य के साधन मात्र के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है ।

यद्यपि कालांतर में अलङ्कार एक सम्प्रदायविशेष के रूप में विकसित हुआ है, किन्तु सर्वप्रथम आचार्य भरत ने नाट्य-शास्त्र में चार अलङ्कारों की ही विवेचना की है - उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक । आचार्य भरत की दृष्टि नाट्यशास्त्रीय रही है । अतः उन्होंने अलङ्कारों को अधिक महत्त्व नहीं प्रदान किया है जो सर्वथा उचित है क्योंकि नाट्य में अतिशय आलङ्कारिकता कथन को दुर्ग्राह्य भी बना सकती है । काव्यालङ्कार के रचनाकार आचार्य भामह ॥छठीं॥ शताब्दी ने अलङ्कार को काव्य की आत्मा घोषित करते हुये एक अलग सम्प्रदाय की ही स्थापना कर दी । यद्यपि भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों यथा राम. शर्मा, मेधाविन्, राजमित्र आदि का उल्लेख किया है । तथापि इनके ग्रन्थ अप्राप्य होने के कारण भामह ही प्रथम हैं । दण्डी ॥सातवीं शताब्दी॥ ने इस परम्परा को आगे बढ़ाते हुए अलङ्कारों की संख्या 35 बताई । किन्तु नवीं शताब्दी में उद्भट ने काव्यालङ्कारसारसंग्रह में इनकी संख्या 41 कर दी । इनके समकालीन काव्यालङ्कार रचयिता आचार्य रुद्रट ने अलङ्कारों का वर्गीकरण करते हुये इनकी संख्या 50 से अधिक निश्चित कर दी तथा रस भाव आदि को अलङ्कार मानने की प्रक्रिया का विरोध भी किया । आचार्य मम्मट जैसे ध्वनिवादी तथा विश्वनाथ जैसे रसवादी आचार्यों ने भी अलङ्कारों के महत्त्व को

स्वीकार किया है । आचार्य मम्मट की अर्थ वृत्ति - क्वचित् स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्व हानिः ॥सूत्र ॥ से स्पष्ट होता है तथा उनके द्वारा किया गया अलङ्कार विवेचन भी पर्याप्त मौलिक है । परवर्ती युग में अलङ्कारों के क्षेत्र में संख्या वृद्धि ही मुख्य प्रवृत्ति रही । अप्पयदीक्षित ॥17वीं शताब्दी॥ के कुवलयानन्द तक यह संख्या लगभग सवा सौ हो गई किन्तु अलङ्कार की इस दीर्घकालीन परम्परा के द्वारा इनकी लोकप्रियता का स्पष्ट आभास प्राप्त हो जाता है यद्यपि कालविशेष में इनके महत्त्व में न्यूनता या अधिकता होती रही । आचार्य भरत की दृष्टि चूंकि नाट्य-शास्त्रीय रही है, अतः अलङ्कारों का संक्षिप्त रूप से ही उल्लेख किया है । वाचिक अभिनय के अन्तर्गत केवल अभिनेता से ही अभिनय का सम्बन्ध होता है, किन्तु आचार्य भरत ने वाचिक अभिनय को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये व्यापक-दृष्टिकोण अपनाया है । नाट्य-कला का सामाजिक के हृदय पर पर्याप्त प्रभाव पड़े इसके लिये संवादों को प्रभावशाली बनाने के लिये आचार्य भरत ने अभिनयेतर काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के प्रयोग को भी स्वीकृति प्रदान की है, किन्तु सीमित रूप में ही । अतः उन्होंने काव्य के शोभाधायक तत्त्व अलङ्कार को सीमित रूप में वर्णित करते हुये मात्र चार अलङ्कारों का ही विवेचन किया है । यद्यपि कालान्तर में इन्हीं अलङ्कारों के आश्रय से ही एक पृथक् अलङ्कार-सम्प्रदाय विकसित हुआ, किन्तु यह विकास नाट्य-परक न होकर श्रव्यकाव्यपरक है । आचार्य भरत द्वारा उल्लिखित चार प्रकार के अलङ्कारों का विवरण इस प्रकार है -

अलङ्कारों के भेद

काव्य-रचना में जब दो पदार्थों की गुण या प्रकृति पर आश्रित होकर सादृश्य द्वारा तुलना की जाये तब वह उपमा अलङ्कार होगा ।[1] यह तुलना एक पदार्थ की

---

1. यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
   उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥
   नाट्यशास्त्र/16/17.

एक से या अनेक से, या अनेक की एक से या अनेक की अनेक से की जाती है । आचार्य भरत ने उदाहरणों के द्वारा इसको स्पष्ट किया है । आचार्य भरत ने उपमा के पाँच विभेद किये हैं - प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी, किञ्चित सदृशी । नामावली के अनुरूप ही इनका उदाहरण प्रस्तुत किया गया है ।[1] परवर्ती आचार्यों ने उपमा के आश्रय अनेक नूतन अलङ्कारों का प्रवर्तन किया है ।

संस्कृत-साहित्य में कालिदास अपनी उपमाओं के लिये अति प्रसिद्ध हैं । 'उपमा कालिदासस्य' यह आभाणक ही प्रसिद्ध है । वस्तुतः ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तन के पूर्व उपमा अलङ्कार ही सादृश्य के द्वारा उपमेय तथा उपमान दोनों के ही सौन्दर्य को द्विगुणित करता था, किन्तु यह सहज रूप में ही कालिदास के काव्य में प्राप्त होता है । अतः सामाजिक के हृदय को आकर्षित करता है । यथा - अभिज्ञानशाकुन्तलम् का यह श्लोक उपमा के सौन्दर्य से युक्त होकर अत्यन्त प्रभावशाली हो गया है -

> 'गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः ।
> चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ।।'[2]

दुष्यन्त का शरीर आगे की ओर रथ के द्वारा जा रहा है और चित्त, हवा के विपरीत ले जाये जाते हुये ध्वजदण्ड के चीनी-वस्त्र की तरह, अपरिचित सा पीछे

1. नाट्यशास्त्र 17/45-55
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/34.

पीछे की ओर भाग रहा है ।

भिन्न विषयों वाले शब्दों का एक वाक्य में दीपक के समान संयोग होने पर दीपक अलङ्कार होता है । 'दीपक' का आशय आचार्य अभिनवगुप्त ने आकांक्षापूरक माना है जो क्रिया, गुण तथा जात्यादि से होते हैं ।[1] जो अपने विकल्प से निर्मित तुल्य अवयवों वाला तथा थोड़ा सादृश्यगुणयुक्त रूप हो, वह रूपक कहलाता है ।

रूपकालङ्कार का प्रयोग द्रष्टव्य है -

"नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहुलनीलधूमलताम् ।
अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे ॥"[2]

रूपकालङ्कार के प्रयोग से चाणक्य की गर्वोक्ति अत्यन्त प्रभावशाली हो गई है ।

शब्दों की आवृत्ति को यमक कहते हैं जो कि पादों से प्रारम्भ होकर अनेक विधाओं को धारण करता है । दृश्य काव्य में होने वाले यमक दस प्रकार के होते हैं ऐसा आचार्य भरत का मत है - पादान्त यमक, काञ्ची-यमक, समुद्ग यमक, विक्रान्त यमक, चक्रवाल यमक, संदष्ट यमक, पादादि यमक, आम्रेडित यमक, चतुर्व्यवसित यमक, माला यमक । इन सभी को आचार्य भरत ने उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है ।[3]

---

1. अथ दीपकं नानाधिकरणार्थानामिति । नाना ये शब्दान्तरवाक्यपदात्मकास्तेषां, अधिकरणान्यभिनानाश्रये अर्थोऽर्थता येषां तथाभूतानां साकांक्षाणामिति तेषां यत्सम्यक् प्रकर्षेण दीपकमाकांक्षापूरकं क्रियागुणजात्यादि तद्दीपकं यत् एकेनावान्तरवाक्येना- संयुक्त सत्तथा करोति ततो दीपकप्रकृतित्वात्तथोक्तमित्यर्थः ।

   नाट्यशास्त्र अध्याय 16,
   अभिनवभारती भाग 2, पृ० 1303.

2. ~~उत्तररामचरित 5/22.~~ मुद्राराक्षस, 1/9

3 नाट्यशास्त्र, 17/56-57.

यद्यपि नाट्यशास्त्र में अलङ्कार-विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त है, तथापि यह परवर्ती आचार्यों के लिये उपजीव्य ग्रन्थ बन गया। भरत द्वारा निरूपित लक्षणों एवं अलङ्कारों के आश्रय से अनेक नवीन अलङ्कारों की उद्भावना सम्भव हुई। यद्यपि नाट्य-शास्त्र में शब्दालङ्कार या अर्थालङ्कार का प्रभेद प्राप्त नहीं होता, तथापि सङ्केत अवश्य सन्निहित हैं। जैसे यमक अलङ्कार के आश्रय से शब्दों को अलङ्कृत करने की परम्परा ने शब्दालङ्कार को जन्म दिया।

नाट्य में वाचिक अभिनय को प्रभावशाली एवं आकर्षक बनाने के लिये अलङ्कारों का प्रयोग सर्वथा उचित है। अलङ्कृत वाक्य हृदय एवं मस्तिष्क दोनों को ही सन्तुष्टि प्रदान करते हैं अलङ्कारों का आधिक्य नाट्य-रचना में सर्वथा वर्जनीय है। अलङ्कारों की अधिकता से वाक्य में कृत्रिमता के साथ ही जटिलता भी आ जाती है, जोकि सहज एवं स्वाभाविक स्वरूप को विनष्ट कर सहृदयों के मध्य अरुचि को उत्पन्न करती है। अतः अलङ्कारों का उतना ही प्रयोग नाट्य में वांछनीय है जितना कि शोभा उत्पन्न करें। अलङ्कारों का समुचित प्रयोग ही रचना को हृदयावर्जक बना सकता है।

<u>दोष-विवेचना</u>

<u>स्वरूप एवं उद्देश्य</u>

वाचिक अभिनय की सार्थकता एवं सफलता के लिये आवश्यक है कि संवादों को दोषों से दूर रखा जाय। आचार्य मम्मट ने दोषों का सामान्य लक्षण इस प्रकार बतलाया है -

'मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥'[1]

अर्थात् साक्षात् रसभावादि के रसोपकारक वाच्य अर्थात् शब्दबोध्य अर्थ के तथा

---

1. काव्यप्रकाशः, 7/49.

रसादि तथा अर्थ के उपकारक जो पद, वाक्य, वर्ण-रचना आदि हैं, उनके अपकर्षक ही दोष हैं। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने अलङ्कारों की तरह दोषों का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। भरत के पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने दोषों का विस्तृत विवेचन किया है। मौलिकता की दृष्टि से कुछ आचार्यों की नूतन उद्भावनायें अत्यन्त श्रेष्ठ भी हैं। तथापि उन सभी की दृष्टि काव्य-शास्त्रीय है, नाट्यपरक नहीं। अतः अत्यंत विस्तृत विवेचन की अपेक्षा नाट्य को दृष्टिपथ में रखकर दोष विवेचना करने वाले भरत के विवेचन का ही यहाँ मुख्य रूप से उल्लेख किया है। परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत दोष-विवेचन का आधार भरतकृत दोष-विवेचन ही है। वाचिक-अभिनय के संदर्भ में दोषों का विवेचन अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है। वाचिक अभिनय में गुणों का सन्निवेश आवश्यक तत्त्व है तो दोषों का परिहार भी अनिवार्य तथ्य है। इसीलिये काव्यालङ्कारसूत्र में कहा भी गया है - 'सौकर्याय प्रपञ्चः'।[1] दोष का स्वरूप ज्ञात हो जाने पर रचनाकार एवं अभिनेता दोनों ही दोषों का परित्याग करने में सफल होंगे।

नाट्यकला का प्रेक्षक-समूह बहुधा जनसामान्य ही होता है। सामान्य जन सहृदय तो हो सकते हैं, किन्तु आवश्यक नहीं कि सभी व्युत्पन्न ही हों। अतः नाट्य-संवाद में गूढार्थ का प्रयोग दुर्ग्राह्य होने के कारण अरुचि को उत्पन्न करेगा। फलतः गूढार्थ दोष के कारण नाट्य प्रस्तुति में असफलता ही उपलब्ध होगी। भामह का गूढ शब्दाभिधान-दोष, गूढार्थ-दोष ही है। अवर्णनीयविषय का वर्णन भी वर्ण्य-विषय के ग्रहण को दुर्ग्राह्य बना देता है।[2] भरत ने इसे अर्थान्तर दोष तथा मम्मटादि ने अमत परार्थता-दोष नाम से अभिहित किया है। जो अर्थ असम्बद्ध हो अथवा असमाप्त

---

1. काव्यालङ्कारसूत्र 2.1.3

2. पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमिति संज्ञितम्।
   अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र तदर्थान्तरमिष्यते ॥
   नाट्यशास्त्र 17/88

हो उसे भरत ने अर्थहीन[1] तथा भामह एवं दण्डी ने अपार्थ नाम दिया है। असभ्य या ग्राम्य अर्थ के सूचक अर्थ को आचार्य भरत ने भिन्नार्थ दोष[2] तथा भोज ने विरुद्ध-अभिहित कहा है। आचार्यभरत ने विवक्षित अर्थ के विपरीत कथन को भी भिन्नार्थ दोष माना है।[3]

अनेक शब्दों का एक ही अर्थ के लिये प्रयोग एकार्थ नामक दोष है जिसके प्रत्येक पाद में संक्षेप में वाक्यार्थ स्थापित किया जाय, वहाँ अभिप्लुतार्थ नामक दोष होता है।[4] प्रमाणरहित विषय का कथन अर्थात् देशकाल के अथवा कला एवं शास्त्रादि के विपरीत अभिधान न्यायादपेत दोष है। अनेक आचार्यों यथा भामह, वामन तथा भोजादि ने इसे विभिन्न नामों से विवेचित किया है। छन्दों भंग होने पर विषम नामक दोष हो जाता है।[5] इसे ही उत्तरवर्ती आचार्यों ने हतवृत्तता दोष कहा है। शब्दों को परस्पर सन्धिहीन दशा में रखा जाय तो विसन्धि दोष होता है। जहाँ एक वर्ण या स्वर का लोप कर दिया जाय वहाँ शब्द-च्युत दोष होता है।[6]

अ आचार्य अभिनवगुप्त ने भरतनिरूपित दोषों को नित्य व अनित्य वर्गों में विभाजित किया है। स्थूल दोष अनित्य हैं तथा अस्थूल दोष अनित्य हैं। उनके अनुसार गूढार्थ का पताकास्थानकादि में प्रयोग, अनुवाद में अर्थान्तर दोष का प्रयोग हास्य में अर्थहीन दोष का प्रयोग, श्रोत्रियादि वक्ता के सम्मुख भिन्नार्थ दोष का प्रयोग, दूसरों को समझाने में एकार्थ दोष का प्रयोग, उन्मादादि की दशा में अभिप्लुतार्थ दोष

---

1. अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सावशेषार्थमेव च।
   नाट्यशास्त्र 17/89.
2. विवक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन विद्यते।
   नाट्यशास्त्र 17/89.
3. भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणाः॥ नाट्यशास्त्र 17/90.
4. नाट्यशास्त्र 17/91
5. नाट्यशास्त्र 17/92 6. नाट्यशास्त्र 17/93.

का प्रयोग तथा स्वयं के लिये भिन्न वृत्त या विसन्धि का प्रयोग स्थूल होने के कारण ग्राह्य या प्रयोज्य हो सकता है अथवा ऐसी स्थिति में ये दोष नहीं भी माने जा सकते हैं ।[1]

भरत के अनुसार दोषों का विपरीत स्वरूप में रहना गुण कहलाता है । उनकी इस मान्यता ने दोषों की परम्परा को विविध आयाम प्रदान किये । जैसे- दण्डी, भामह, वामन, भोज, आनन्दवर्धन एवं महिमभट्ट आदि आचार्यों ने दोषा-हान, दोष-राहित्य, दोष-विपर्ययवाद तथा दोषों की अनित्यता के सिद्धान्त का उपबृंहण किया, जबकि अग्निपुराणकार ने इसका विरोध किया ।

<u>गुण-सिद्धान्त - विवेचना</u>

वाचिक अभिनय की श्रेष्ठता के लिये जिस प्रकार दोषों का परिहार आवश्यक है । उसी प्रकार गुणों की उपस्थिति भी अनिवार्य है । नाट्यशास्त्र में ही सर्वप्रथम गुणों का स्पष्ट रूप से विवेचन मिलता है । रामायण, महाभारत तथा अर्थशास्त्र इत्यादि में कतिपय गुणों के नाम प्राप्त होते हैं । यथा-उदार, मधुर इत्यादि ।[2]

---

1. एतन्मध्ये तु केचित् नित्यदोषाः, यथा अपशब्दः । केचिदनित्या यथा ग्राम्यं, हास्यादौ तस्येष्टमत्वात् । एतदाह यथास्थूलमिति आनुपूर्व्यमिति चात्र अव्यये-चाव्ययीभावः । तेनोत्तरोत्तरं स्थूलाः । यथा च गूढार्थं गूढलेखप्रहेलिकादि पताकास्थानकादिषु प्रयोज्यम् , अर्थान्तरमनुवादे, अर्थहीनादि हास्ये, भिन्नार्थं श्रोत्रियादौ वक्तरि, एकार्थं परप्रत्यानने, अभिप्लुतार्थमुन्मादौ, भिन्नवृत्तं विसन्धि च स्वविषये ।

    नाट्यशास्त्र, अध्याय 16, अभिनवभारती भाग 2, पृ0 1317,
    [का0हि0वि0वि0 संस्करण]

2. क. महाभारत-आदिपर्व-तपाख्यान विशिष्ट विचित्रपदपर्वणि 24/1
   ख. अर्थशास्त्र 10/80-81

नाट्यशास्त्र के परवर्ती ग्रन्थों में गुणों का स्वरूप विवेचन विशुद्ध रूप से काव्यशास्त्रीय हो गया है । वामन द्वारा शब्दार्थ में गुणविभाजन की प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। आनन्दवर्धन ने रसाश्रित गुणसिद्धान्त का प्रतिपादन किया ।[1] वाचिक अभिनय नाट्य कला का ही विषय है । गुणों पर विचार करना आवश्यक है । भरत के द्वारा निरूपित गुण इस प्रकार हैं -

इन दस गुणों की परिगणना एवं विवेचना की है -

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्य गुणा दशैते ॥[2]

गुणों का नाट्य रचना में अतिशय महत्त्व है । सर्वप्रथम रीतिवादी आचार्य वामन ने गुण तथा अलङ्कारों का भेद विवेचन किया । वामन के अनुसार - काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणास्तदतिशय हेतवस्त्वलङ्काराः, अर्थात् काव्य शोभा के उत्पादक शब्द और अर्थ के धर्म गुण होते हैं तथा उस शोभा के वृद्धि कारक हेतुओं को अलङ्कार कहते हैं । ध्वनिवादी आचार्यों ने गुण के स्वरूप का सूक्ष्मता से विवेचन करते हुये बताया कि गुण शब्द-विन्यासादि के धर्म नहीं, अपितु काव्य की आत्मा अर्थात् रस के धर्म हैं - 'ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत् ।'[3]

---

1. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः - वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्काराः मन्तव्याः कटकादिवत् ।
ध्वन्यालोक 2.6

2. नाट्यशास्त्र, 17/95

3. ध्वन्यालोक 3.6

मम्मट ने गुणों की रसधर्मिता तथा अलंकारों की शब्दार्थधर्मिता आनन्दवर्धन के समान ही स्वीकार की है -

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।।'[1]

अर्थात् जिस प्रकार शरीर में आत्मा है, उसी प्रकार काव्य में प्रधानतया स्थित रस है । शौर्यादि अचेतन शरीर के धर्म नहीं है, अपितु जीवात्मा के धर्म हैं। इसी प्रकार गुण भी रस के धर्म हैं । शब्दार्थ के धर्म नहीं है । रस के साथ गुणों की स्थिति अव्यभिचारी रूप से है तथा विद्यमानरहकर रस का अवश्य उपकार करते हैं ।

वामन ने गुणों की संख्या में विस्तार करते हुये 10 शब्द गुण तथा 10 अर्थ गुण बताये ।[2] कालान्तर में गुणों की संख्या में वृद्धि हुई किन्तु रसवादी आचार्यों के गुणों के सम्बन्ध में सूक्ष्म विवेचन के पश्चात् गुणों की संख्या अत्यन्त सीमित हो गई तथा केवल तीन गुण ही स्वीकार किये गये -

माधुर्योजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।

अन्य सभी गुणों का इन्हीं में समाहार हो जाता है । आचार्य मम्मट के अनुसार -

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ।।[3]

---

1. काव्यप्रकाश: 8/66

2. काव्यालङ्कारसूत्र 3.1, 3.2

3. काव्यप्रकाश: 8/72, पृ0 420.

इसी प्रकार दश शब्द-गुणों का भी अन्तर्भाव इन्हीं तीन गुणों में हो जाता है। जैसे श्लेष, समाधि, उदारता तथा ओज मिश्रित बन्ध शैथिल्य रूप प्रसाद का अन्तर्भाव ओज में हो जाता है। अर्थव्यक्ति का प्रसाद में ग्रहण हो जाता है। माधुर्य को ग्रहण ही कर लिया गया है। सौकुमार्य तथा कान्ति दोनों दोषाभाव रूप ही हैं तथा समता कहीं-कहीं पर दोष हो जाती है। इस प्रकार गुणों का अत्यन्त परिष्कृत रूप आचार्यों द्वारा प्रस्तुत किया गया।

माधुर्य गुण का लक्षण करते हुये आचार्य भरत कहते हैं कि जो वाक्य अनेक बार कहने सुनने पर भी उद्वेग उत्पन्न न करे, वहाँ माधुर्यगुण होता है।[1] अभिनवगुप्त ने इसे शब्द एवं अर्थ दोनों का गुण स्वीकार किया है। भामहाचार्य ने माधुर्य का लक्षण करते हुये कहा है -श्रव्यं नातिसमस्तार्थं शब्दं मधुरमिष्यते। आचार्य मम्मट द्वारा प्रस्तुत माधुर्य का लक्षण पर्याप्त व्यापक है - 'आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृंगारे द्रुतिकारणम्'[2] आचार्य भामह के लक्षण में श्रव्य का तात्पर्य श्रुतिप्रियता से है, किन्तु श्रुतिप्रियता तो ओज एवं प्रसाद में भी होती है। अतः यह लक्षण उचित नहीं है। माधुर्य श्रृंगार के अतिरिक्त करुण तथा शान्त रस में भी रहता है। श्रृंगार में माधुर्य प्रतिबंध रहित होता है। माधुर्य करुण, विप्रलम्भ तथा शान्त रस में उत्कृष्टतर होता चला जाता है; क्योंकि क्रमशः अत्यधिक द्रुति का कारण होता है। माधुर्य गुण का उदाहरण द्रष्टव्य है -

'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै -
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥'[3]

---

1. नाट्यशास्त्र 17/100
2. काव्यप्रकाश 8/68
3. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 2/10

आचार्य भरत के अनुसार अनेक सामासिक तथा विचित्र पदों से युक्त एवं अनुरागमयी ध्वनि वाली रचना ओज गुण से युक्त होती है । अभिनवगुप्त के अनुसार यह अर्थगुण है । आचार्य मम्मट ने ओजगुण का लक्षण इस प्रकार किया है -

'दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।'[1]

वीर की अपेक्षा वीभत्स में तथा वीभत्स से रौद्ररस में ओजगुण बढ़कर होता है । ओज गुण का उदाहरण द्रष्टव्य है -

भीमसेन :

युष्मच्छासनलङ्घनांहसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा -
नद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ।।[2]

आचार्य भरत ने प्रसाद गुण को स्पष्ट करते हुये कहा है कि जहाँ बिना व्याख्यान के ही सरलता से अर्थावबोध होता हो, वहाँ प्रसाद गुण होता है । वामन तथा अभिनवगुप्त ने इसी को अर्थविमलता के रूप में परिभाषित किया है ।[3] आचार्य मम्मट के अनुसार प्रसाद गुण का लक्षण इस प्रकार है -

'शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।।'[4]

---

1. काव्यप्रकाश: 8/69.
2. वेणीसंहार 1/12
   नाट्यशास्त्र, अध्याय 16.
3. अभिनवभारती भाग-2, पृ0 132। ।का0हि0वि0वि0सं0।
4. काव्यप्रकाश: 8/70

यह प्रसाद गुण समस्त रसों का धर्म है । प्रसाद गुण का उदाहरण द्रष्टव्य है -

'राजा - महासेनस्य दुहिता शिष्या देवी च मे प्रिया ।
कथं सा न मया शक्या स्मर्तुं देहान्तरेष्वपि ।।'[1]

इस प्रकार गुणों की रसधर्मिता उनके महत्त्व को बढ़ा देती है । नाट्य का लक्ष्य ही रसास्वादन करना है । अतः नाट्यरचना में गुणों का सन्निवेश अनिवार्य है ।

भाषा-विधान

आचार्य भरत ने नाट्य की भाषा का भी विवेचन प्रस्तुत किया है । वस्तुतः भारत प्राचीन काल से ही विभिन्न संस्कृतियों की संगम-स्थली रहा है । अतः यहाँ विविध प्रकार की भाषायें विकसित होती रही हैं । नाट्य के उचित सम्प्रेषण के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि नाट्य में प्रयुक्त भाषा स्थानीय लोगों के लिये अनुकूल हो जिससे वे भावार्थों को सहज रूप में ग्रहण कर सकें । अतः आचार्य भरत ने तत्कालीन समाज में प्रचलित विविध भाषाओं को नाट्य में प्रयुक्त करने का निर्देश दिया है । यद्यपि आधुनिक सन्दर्भों में यह विवरण उतना प्रासंगिक नहीं है, जितना प्राचीन सन्दर्भ में रहा होगा, क्योंकि इनमें से अनेक भाषायें आधुनिक समाज में प्रचलित नहीं हैं । आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत भाषाविधान के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्य की प्रस्तुति जन-रुचि तथा परम्परा के अनुसार ही होनी चाहिये । जिससे जनसामान्य को भावों की प्रतीति में कठिनाई न हो ।

आचार्य भरत ने संस्कृत भाषा का संक्षिप्त विवरण देने के पश्चात् प्राकृत भाषा का भी पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया है । उन्होंने नाट्य में प्रयुक्त की जाने वाली भाषा के चार प्रभेद किये हैं - ।1। अतिभाषा, ।2। आर्यभाषा, ।3। जातिभाषा,

---

1. वेणीसंहार 6/11.

(4) जात्यन्तरी भाषा ।[1]

अतिभाषा वैदिक बहुल भाषा है । आर्य भाषा श्रेष्ठजन की भाषा है । योन्यन्तरी भाषा मनुष्येतर या पशुपक्षियों की भाषा मानी जाती है । देवगण की अतिभाषा तथा भूपालों की आर्यभाषा होती है ।[2] नाट्य में प्रयोग की जाने वाली जाति भाषा दो प्रकार की होती है । इसमें अनेक अनार्य तथा म्लेच्छों के द्वारा व्यवहार में आने वाले शब्द समाविष्ट रहते हैं जो कि तत्कालीन भारतवर्ष में बोली जाती थी ।[3] भाषा को व्यावहारिकता की दृष्टि से उपयोगी बनाने के लिये ऐसा प्रयोग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था । इससे भाषा समृद्ध तो होती ही है, जनसाधारण के और भी अधिक समीप आ जाती है ।

<u>जाति-भाषा-विवेचना</u>

जाति भाषा में होने वाला पाठ्य दो प्रकार का होता है । यह चारों वर्णों से सम्बद्ध है । ये हैं - संस्कृत पाठ्य एवं प्राकृत-पाठ्य ।[4] आचार्य भरत ने इन दोनों का ही विनियोग-विवेचन विस्तार से प्रस्तुत किया जो कि उस समय के भारत का जीवंत चित्र प्रस्तुत करता है । नाट्य के अन्तर्गत चार प्रकार के नायक स्वीकृत हैं - धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त एवं धीरप्रशान्त । इन सभी की भाषा संस्कृत होनी चाहिये ।[6] अवसर या आवश्यकता के अनुसार इनमें प्राकृत पाठ्य की योजना भी की जा सकती है ।[6] यदि कोई उत्तम पात्र अपने राज्य या ऐश्वर्य के प्राप्त होने पर अपने

---

1. नाट्यशास्त्र 18/26
2. तत्रैव 18/27.
3. तत्रैव 18/28.
4. तत्रैव 18/30.
5. तत्रैव 18/31.
6. तत्रैव 18/32.

पद में मत्त हो या फिर दरिद्रता से अभिभूत हो अथवा उन्मत्त हो जाये तो संस्कृत भाषा का प्रयोग न होकर प्राकृत भाषा होनी चाहिये । जो पात्र किसी व्याज से साधु का रूप धारण किये हो, साधु, जैन साधु, भिक्षु तथा बाजीगर हों तो उनमें प्राकृत पाठ्य की योजना की जाती है । कई संस्कृत-नाट्यों में इस तरह की योजना की गई है । स्वप्नवासवदत्तम् में यद्यपि यौगन्धरायण ने व्याज से ही तपस्वी का रूप धारण किया किन्तु वह सर्वत्र संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करता है । मुद्राराक्षस में आहितुण्डक नामक सपेरा अवश्य प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करता है ।[1]

विक्रमोर्वशीयम् में राजा के द्वारा उन्माद की अवस्था में प्राकृतापभ्रंश का प्रयोग मिलता है । बालक, भूत या पिशाचग्रस्त मनुष्य स्त्री प्रकृति के पुरुष निम्न जाति के पुरुष तथा साधुओं की भाषा प्राकृत ही होती है ।[2] जैसे अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला का पुत्र प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करता है -

बालः - (मातरमुपेत्य)

अज्जुए, एसो को वि पुरिसो
मं पुत्त त्ति आलिंगादि ।'[3]

इस प्राकृत पाठ्य के अपवाद का भी विधान प्राप्य है जो पात्र संन्यासी, साधु, बौद्ध-भिक्षु, श्रोत्रिय तथा वेदपाठी ब्राह्मण हों और अपनी प्रतिष्ठा या स्थिति के अनुरूप आचार व्यवहार रखते हों तो उनकी भाषा संस्कृत रखी जाती है । अवसर विशेष में महारानी, वेश्या तथा दासी आदि पात्र भी संस्कृत भाषा का व्यवहार कर सकते हैं ।

---

1. मुद्राराक्षस, अंक 2, पृ0 95.

2. नाट्यशास्त्र 18/35

3. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 7, पृ0 468.

मालविकाग्निमित्रम् में मालविका के द्वारा संस्कृतभाषा के प्रयोग का विधान प्राप्य है । सन्धि या विग्रह से सम्बन्धित वार्ता, आकाश में उदित किसी नक्षत्र के शुभ या अशुभ फल पर विचार किया जा रहा हो, इसी तरह राजा के शुभ या अशुभ भविष्य की कल्पना के लिये संस्कृत भाषा का प्रयोग रानी द्वारा किया जाना चाहिए।[1] वेश्याओं का सम्पर्क विभिन्न रुचियों वाले व्यक्तियों के साथ रहता है । अतः प्राकृत के अतिरिक्त इनके संवाद संस्कृत में भी होने चाहिये ।[2]

मृच्छकटिकम् में गणिका वसन्तसेना के द्वारा संस्कृत भाषा का भी प्रयोग मिलता है -

'वसन्तसेना - भाव । स्वयं भेदं । सा पेक्ख पेक्ख -

गता नाशं तारा उपकृतमसाध्याविव जने ।
वियुक्ताः कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः।
प्रकामान्तस्तप्तं त्रिदशपति-शस्त्रस्य शिखिना
द्रवीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम् ।।'[3]

राजा के मनोरंजनार्थ तथा कलाओं के व्यावहारिक ज्ञान के लिये शिल्पिका स्त्री पात्रों की प्रसंगोचित संस्कृत भाषा होनी चाहिये । देवताओं के सान्निध्य के कारण अप्सराओं की भाषा भी संस्कृत होनी चाहिये । इस विधान में भरत ने विकल्प भी रखा है कि अप्सराओं की जाति स्त्री होती है तथा यदि वे पृथ्वी पर विचरण करती हैं, इसलिये उनकी भाषा प्राकृत भी हो सकती है ।

---

1. नाट्यशास्त्र, 18/38-39.
2. तत्रैव, 18/40
3. मृच्छकटिकम् , 5/25.

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सानुमती नामक अप्सरा द्वारा प्राकृत भाषा का ही प्रयोग मिलता है, क्योंकि वह पृथ्वी पर स्थित है -

सानुमती -

णिव्वत्तिदं मए पज्जाअणिव्वत्तिणिज्जं अच्छरातित्थ ....।'[1]

इसी प्रकार मानव को पति के रूप में स्वीकार करने पर अवसरानुकूल दोनों में से कोई भी भाषा में अप्सराओं के संवाद रखे जा सकते हैं ।

आचार्य भरत ने जनसाधारण में सर्वथा अपरिचित भाषाओं के प्रयोग का निषेध भी किया है जैसे - बर्बर, किरात, आन्ध्र तथा द्राविड़ इत्यादि ।[2] किन्तु नाट्य की प्रस्तुति को स्वाभाविक बनाने के लिये इन जातियों की केवल शौरसेनी से मिलती जुलती प्रचलित भाषाओं के प्रयोग का निर्देश दिया गया है । नाट्य-निर्देशक के ऊपर इनकी भाषा के विधान को छोड़ दिया गया है जिससे वह स्वाभाविकता लाने के लिये अपने कौशल का प्रयोग कर सके ।[3]

<u>प्राकृत भाषा के भेद</u>

आचार्य भरत ने प्राकृत भाषा के सात भेदों का विवेचन करते हुये उनके विनियोग का विधान भी बताया है । ये भाषायें हैं - (1) मागधी, (2) अवन्ती, (3) प्राच्या, (4) सौरसेनी, (5) अर्धमागधी, (6) बाल्हीका, (7) दाक्षिणात्या ।[4]

इसके अतिरिक्त विभाषायें भी हैं - शाकारी, आभीरी, चाण्डाली, शाबरी,

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् अंक 6, पृ0 346.
2. नाट्यशास्त्र, 18/44
3. तत्रैव 18/45-46
4. तत्रैव 18/47.

द्राविड़ी, आन्ध्री तथा वनेचरों की जंगली भाषायें। इनमें से राजा के अन्तःपुर के रक्षक तथा सेवकों की मागधी भाषा तथा राजपुत्र, चेट तथा श्रेष्ठिजन की अर्धमागधी भाषा होनी चाहिये।[1] मुद्राराक्षस में चाणक्य का गुप्तचर जैनक्षपणकवेशधारी जीवसिद्धि मागधी प्राकृत का ही प्रयोग करता है - 'क्षपणकः - सन्तं पावं। चाणक्केण चिलकण्णाए णामपि ण सुदम्।[2] मृच्छकटिक में शकार, वसन्तसेना एवं चारुदत्त तीनों के चेट मागधी भाषा बोलते हैं। यथा - चेटः - अज्जुके। चिट्ठ चिट्ठ।[3] मृच्छकटिक प्रकरण प्राकृत भाषाओं के प्रयोग की दृष्टि से अप्रतिम हैं। इसी में विदूषक प्राच्या का प्रयोग करता है - 'विदूषकः - एसो अज्जचारुदत्तो ......।[4] आचार्य भरत भी कहते हैं - विदूषक तथा तद्रूप पात्रों की भाषा प्राच्या तथा धूर्तवृत्ति के पात्रों की भाषा अवन्ती होनी चाहिये।[5] मृच्छकटिक में वीरक तथा चन्दनक अवन्ति भाषा बोलते हैं। यथा -

'चन्दनकः - ता गच्छदु।
वीरकः - अणवलोइदो जेव्व ?'[6]

सुविधानुसार ही नायिका तथा उसकी सखियों की भाषा शौरसेनी रखी जानी चाहिये।[7] मृच्छकटिक में ग्यारह पात्र शौरसेनी प्राकृत बोलते हैं। जिनमें नायिका वसन्तसेना तथा उसकी दासी मदनिका भी है। यथा -'वसन्तसेना (शून्यमवलोक्य) हद्धी। हद्धी। कधं परिजणो वि परिब्भट्ठो।'[8]

---

1. नाट्यशास्त्र, 18/49.
2. मुद्राराक्षस, अंक 5, पृ0 265.
3. मृच्छकटिक, अंक 1, पृ0 36.
4. तत्रैव, अंक 1, पृ0 25.
5. नाट्यशास्त्र, 18/50.
6. मृच्छकटिक, अंक 6, पृ0 339.
7. नाट्यशास्त्र, 18/50
8. मृच्छकटिकम् अंक 5, पृ0 45.

सैनिकों, जुआरियों, नगररक्षक आरक्षक की दाक्षिणात्या भाषा तथा भारत के उत्तरभाग के निवासी खसों की देशभाषा वाल्हीकी भाषा होनी चाहिये ।[1] शकार, शक, उसके अनुरूप स्वभाव वाले वर्गों की भाषा शकारी होनी चाहिये । इनके अतिरिक्त इन पात्रों की भाषा शकारी ही होगी -

'अङ्गारकारकव्याधकाष्ठयन्त्रोपजीविनाम् ।
योज्या शकारभाषा तु किञ्चिद्वानौकसी तथा ॥'[2]

मृच्छकटिक में शकार इसी भाषा का प्रयोग करता है -

'शकार: -
मम मअणमणङ्गं मम्महं वड्ढअन्ती
णिशि अ शअणके मे णिद्दअं आक्खिवन्ती ।
पलअशि भअभीदा पक्खलन्ती खलन्ती
मम वशमणुजादा लावणश्शेव कुन्ती ॥'[3]

पुल्कस, डोम तथा इनके समान अन्यनीचजातियों की चाण्डाली भाषा होनी चाहिये ।

मृच्छकटिक में ही इस भाषा का प्रयोग मिलता है । यथा -

।ततः प्रविशति चाण्डालद्वयेनानुगम्यमानश्चारुदत्तः।

उभौ - तविकं ण कअ कालणं णव-वह-बन्ध णअणेणिउणा ।
अचिलेण शीश-छेअण शूलालोवेशु कुशलम्ह ।[4]

---

1. नाट्यशास्त्र, 18/51.
2. तत्रैव, 18/56.
3. मृच्छकटिकम् 1/21
4. तत्रैव 10/1.

इसी प्रकार आचार्य भरत ने आभीरी, शाबरी, द्राविड़ी एवं मागधी भाषा का विधान अत्यन्त सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है ।[1] भाषाओं के विस्तृत विवेचन के उपरान्त आचार्य भरत ने विभिन्न देशों की भाषाओं के विभेदक लक्षण प्रस्तुत किये हैं । यह सारा विवेचन आचार्य भरत की सूक्ष्म पर्यवेक्षिणी शक्ति का ही परिचायक है ।

पाठ्य-गुण-स्वरूप

वाचिक अभिनय में संवाद ही आधारशिला हैं । अतः आचार्य भरत ने पाठ्य के गुण एवं स्वरूप का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया है । आचार्य अभिनव गुप्त ने इसकी व्याख्या करते हुये कहा है पाठ्य के जो उपकारक या आधार हों उनका विश्लेषण जिनसे अभिनय का पल्लवन किया जाय"पाठ्य गुण" कहलाता है- "अतएवाह पाठ्य गुणानितिगुणाः उपकारकाः यदुपकृतं काव्यं पाठ्यं भवतीत्यर्थः ।"[2] ये उपकारक उपकरण हैं- सप्त स्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, दो काकु, छः अलंकार तथा पाँच अंग ।[3] इनका विवेचन इस प्रकार है-

सप्त-स्वर-

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद । इन स्वरों का प्रयोग विभिन्न रसों के अनुसार उपयुक्त एवं अनुकूल स्थिति में करना चाहिये । हास्य तथा श्रृंगार में मध्यम तथा पंचम स्वर तथा वीर, रौद्र एवं अद्भुत-रस में षड्ज और ऋषभ स्वर रखना चाहिये । करुण-रस में गान्धार तथा निषाद और वीभत्स और भयानक रस

1- नाट्य शास्त्र, 18/53-55

2- नाट्य शास्त्र, अध्याय-17, अभिनव भारती भाग-2 पृ0 1409

3- नाट्य शास्त्र, अध्याय-19, वृत्ति भाग

में धैवत स्वर होता है ।[1]

स्वरों के स्थान

जिस प्रकार वीणा में स्वर के तीन स्थान नियत होते है उसी प्रकार मानव के शरीर में स्वरों के तीन उद्गम स्थल है- उरस्थल,कण्ठ,शीर्ष ।[2] बहुत दूर पर स्थित किसी व्यक्ति को बुलाने में शीर्ष अर्थात् तार स्वर का प्रयोग होता है । जो थोड़ी दूर हो उसे कण्ठ-स्वर अर्थात् मध्य स्वर से तथा जो समीप हो उसे उरस्थल से निस्सृत स्वर से बुलाना चाहिये ।[3]

वर्ण-स्वरूप-

पाठ्य में चार वर्ण होते हैं-उदात्त,अनुदात्त स्वरित तथा कम्पित । हास्य तथा श्रृंगार रस में स्वरित और उदात्त स्वर,वीर रौद्र तथा अद्भुत रसों में उदात्त तथा कम्पित स्वर,करुण,वात्सल्य तथा भयानक रस में अनुदात्त,स्वरित और कम्पित स्वर रहने चाहिये ।[4]

काकु

काकु का संवाद में अत्यधिक महत्व होता है । काकु के द्वारा स्वर वैभिन्य से विचित्रता उत्पन्न होती है तथा अर्थ में विस्तार गुण आ जाते हैं । काकु के दो प्रकार हैं-।1। साकांक्ष तथा ।2। निराकांक्ष । जिस वाक्य में अर्थ पूर्ण रूप से प्रकट होता है,वह निराकांक्षा कहलाता है ।[5] आचार्य भरत इन दोनों की व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं उनके अनुसार यदि किसी वाक्य के उच्चारण के समय जिसका अर्थ पूर्ण रूप से प्रकट न

1- नाट्यशास्त्र, 19/38-39

2- नाट्यशास्त्र 19/40-41

3- नाट्यशास्त्र 19/41

4- नाट्यशास्त्र 19,वृत्तिभाग

5- नाट्यशास्त्र 19/44

होता हो और जिसमें कंठ और वक्ष-स्थल के प्रदेश से स्वर उत्पन्न हो रहा हो, जो तार स्वर से प्रारम्भ होकर मन्द्र स्वर में समाप्त हो जाता हो तथा वर्ण और अलंकारों की पूर्णता जिसमें न रहे उसे साकांक्ष काकु कहते हैं। तथा जिसमें किसी वाक्य की उच्चारण दशा में जिसका अर्थ पूर्ण रूप से प्रकट होता हो तथा जिसमें तार स्वर से प्रारम्भ होकर मन्द्र स्वर में समाप्ति हो जाती हो और जिसमें वर्ण और अलंकार पूर्ण रूप से विद्यमान हों उसे निराकांक्ष कहते हैं।[1]

स्वरों के अलंकार-

स्वरों के छः अलंकार जो पाठ्य में- ।1। उच्च ।2। दीप्त ।3। मन्द्र ।4। नीच ।5। द्रुत ।6। विलम्बित। उच्च स्वर उसे कहते है जो मूर्धा स्थान से उत्पन्न हो और तार-स्वर उसे जो थोड़ी ऊँची आवाज में बोला जाता हो इसका उपयोग दूरस्थ व्यक्ति से, संभाषण, विस्मय परस्पर उत्तर-प्रत्युत्तर, दूरस्थ व्यक्ति को पुकारना, त्रास तथा बाधाआदि में किया जाता है।[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रस्तुत स्थल में भयभीत विदूषक का स्वर इसी तरह का होगा-

"।नेपथ्ये।

भो वयस्य, अविहा अविहा।"[3] दीप्त स्वर उसे कहते हैं जो मूर्धा स्थान से उत्पन्न हो तथा कुछ ऊँची आवाज से उच्चरित किया जाय इसका संयोजन युद्ध, कलह, क्रोध, शौर्य, अहंकार इत्यादि में प्रदर्शित किया जाता है।[4] मुद्राराक्षस में

1- नाट्यशास्त्र, अध्याय-19 वृत्तिभाग पृ0 360

2- नाट्यशास्त्र, अध्याय-19, वृत्तिभाग पृ0 361

3- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक-6 पृ0 418

4- नाट्यशास्त्र, अध्याय-19, वृत्तिभाग पृ0 361

चाणक्य का यह कथन दीप्त स्वर से ही अभिनीत किया जायेगा-

"ःततः प्रविशति मुक्तां शिखां परामृशन् कुपितश्चाणक्यःः

चाणक्यः -

कथय क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ।"[1]

मन्द्र स्वर वक्ष से उत्पन्न होता है । इसकी योजना निर्वेद, ग्लानि, शंका, चिन्ता व्याधि मूर्च्छा, मद इत्यादि में होती है ।[2] स्वप्नवासवदत्तम् के प्रस्तुत स्थल पर मन्द्र स्वर का प्रयोग होगा-

ःततः प्रविशति विचिन्तयन्ती वासवदत्ताः

"वासवदत्ता- x x x ःपरिक्रम्यः अहो ।
अत्याहितम् । आर्यपुत्रोऽपि नाम परकीयः संवृत्तः ।[3]

नीच स्वर वक्षः स्थल से उत्पन्न होने अत्यन्त मन्द्रतर होता है । इसकी योजना स्वाभाविक संभाषण, व्याधि, त्रास इत्यादि की दशा में की जाती है ।[4] मृच्छ-कटिक के इस स्थल पर इसी विदूषक एवं चेटी के द्वारा इसी स्वर का प्रयोग होगा-

विदूषकः ःचेट्या कर्णेः एवामिव ।

चेटी- ःविदूषकस्य कर्णेः एवमिव ।

चारुदत्तः किमिदं कथ्यते ? किं वयं बाह्याः[4]

1- नाट्यशास्त्र, अध्याय-19 वृत्तिभाग ।

2- स्वप्नवासवदत्तम्, अंक-3, पृ० 84

3- नाट्यशास्त्र, अध्याय 19, वृत्तिभाग ।

4- मृच्छकटिक अंक-5, पृ० 303

द्रुत-स्वर कण्ठ-स्थान से शीघ्रतापूर्वक उच्चरित किया जाता है इसकी योजना स्त्रियों के द्वारा बालकों को सान्त्वना देने, प्रिय के प्रस्ताव को अस्वीकृत करने भय, शीत इत्यादि में की जाती हैं। विलम्बित-स्वर कण्ठ स्थान से उच्चरित होता है तथा थोड़ा मन्द स्वरूप वाला होता है। इसका प्रयोग शृंगार, वितर्क, विचार अमर्ष, असूया, लज्जा, आश्चर्य, पीड़ा इत्यादि में किया जाना चाहिये।[1] विलम्बित-स्वर का प्रयोग रत्नावली के इस स्थल पर सागरिका के कथन में होगा- "सुसङ्गता-सखि दिष्ट्या वर्धसे। एव से हृदय वल्लभस्त्वामेव × × तिष्ठति।

सागरिका-(सलज्जम्) कस्मात् परिहासशीलतयेमं जनं लघु करोषि।[2]

<u>रस तथा भावानुसारी काकुस्वर-विधान-</u>

विभिन्न प्रश्नोत्तर की निरन्तरता, कठोर वचनों का परस्पर प्रयोग, तीक्ष्ण वार्ता, आवेग, विलाप, किसी को भयभीत करने या कष्ट देने, दूर स्थित व्यक्ति को बुलाने इत्यादि की अवस्थाओं में भाव तथा रस के अनुरूप ही काकु स्वर को उच्च, दीप्त तथा द्रुत रखना चाहिये।[3] व्याधि की दशा, ज्वर, भूख, प्यास, औत्सुक्य तथा उग्र-कथा कथोप इत्यादि के अवसर पर मन्द तथा नीच काकु स्वर होना चाहिये।[4] प्रणय प्रस्ताव की अस्वीकृति, भय, शीत के द्वारा मन्द और द्रुत काकु स्वर रखना चाहिये।[5] कोई हुई वस्तु दिखाने पड़े तब उसका पीछा करने पर, किसी अचाहे व्यक्ति की बात सुनने, चिन्ता-ग्रस्त होने, उन्माद, विस्मय, क्रोध, हर्ष या रुदन इत्यादि के अवसर पर विलम्बित, दीप्त तथा मन्द काकु स्वर की योजना की जानी चाहिये।[6] हर्ष युद्ध तथा सुकारी वृत्त

1- नाट्यशास्त्र, अध्याय-19 वृत्तिभाग

2- रत्नावली, अंक-2, पृ0 111

3- नाट्यशास्त्र 19/46-48

4- नाट्यशास्त्र 19/49-50

5- नाट्यशास्त्र 19/ 51

6- नाट्यशास्त्र 19/52-55

से सम्बन्धित संवाद के कथन में मन्द्र और विलम्बित काकु स्वर की योजना होनी चाहिये ।[1] वाणी की तीक्ष्णता के लिये दीप्त तथा उच्च काकु स्वर होने चाहिये ।

हास्य, श्रृङ्गार तथा करुण रस में विलम्बित काकु स्वर और वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में दीप्त काकु-स्वर प्रशस्त होता है । भयानक तथा वीभत्स रस में द्रुत और नीच काकु-स्वर का प्रयोग होगा । आचार्य भरत ने स्पष्ट रूप से निर्देश दिया है कि भाव एवं रसों के अनुरूप काकु स्वर की योजना की जानी चाहिये ।

<u>उच्चारण-</u>

आचार्य भरत ने उच्चारण के छः अङ्गों का उल्लेख किया है- ।1। विच्छेद, ।2। अर्पण, ।3। विसर्ग, ।4। अनुबन्ध, ।5। दीपन तथा ।6। प्रशमन् ।[1] उच्चारण में विच्छेद विराम के कारण होता है । लीला तथा सौकुमार्य से पूर्ण स्वरों में प्रेक्षागृह को भरते हुये जिस शब्दावली का पाठ किया जाय उसे अर्पण कहते हैं । दो या अधिक पदों के बीच विच्छेद न करना या उनके उच्चारण की दशा में सांस का न टूटना अनुबन्ध कह-लाता है । उच्च स्वरों को शनैः-शनैः नीचे की ओर बिना वैस्वर्य के लाना प्रशमन कह-लाता है । हास्य तथा श्रृङ्गार रस में पाठ्य को अर्पण, विच्छेद, दीपन और प्रशमन नामक अङ्गों से युक्त रखना चाहिये । करुण रस में दीपन और प्रशमन से युक्त होना चाहिये । वीर रौद्र तथा अद्भुत रसों में विच्छेद, प्रशमन, अर्पण, दीपन तथा अनुबन्ध युक्त पाठ्य रहना चाहिये । वीभत्स और भयानक रस में विसर्ग, विच्छेद युक्त पाठ्य होना चाहिये। इन सभी अङ्गों का मन्द्र, मध्य एवं तार स्वरों के माध्यम से प्रयोग होता है । इन स्वरों की तीन प्रकार की लय का भी विभिन्न रसों में उपयोग किया जाता है ।

<u>विराम की उपयोगिता-</u>

विराम अर्थ की समाप्ति के कारण अथवा परिस्थिति पर निर्भर करता है ।[2] छन्द के लक्षण पर ही विराम नहीं बल्कि लोक व्यवहार में प्रयुक्त वाक्यों से ज्ञात होता है कि एक दो या तीन, चार अक्षरों पर भी विराम होता है । विराम का अवसरा-

---

1- नाट्यशास्त्र, अध्याय-19, पृ0 366 वृत्तिभाग

2- नाट्यशास्त्र, अध्याय-19, पृ0 338, वृत्तिभाग

नुकूल प्रयोग नाट्य की अर्थवत्ता को गरिमा प्रदान करता है ।

उत्तररामचरित में यह प्रसंग दर्शनीय है -

राम : - x x x x x

किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ।

प्रतिहारी - देव, उपस्थितः ।

राम : - अयि कः ?[1]

विराम का समुचित प्रयोग अभिनेता या नाट्य-निर्देशक दोनों के लिये ही अत्यावश्यक है । आचार्य भरत ने कहा भी है 'विरामो ह्यर्थानुदर्शकः' विराम में रस या भाव के अनुसार ही समय लेना चाहिये जैसे विषाद तथा वितर्कादि में एक कला का प्रयोग होना चाहिये । विराम के महत्त्व को प्रदर्शित करने वाला प्राचीन आनुवंश्य श्लोक भी है -

विरामे प्रयत्नो हि नित्यं कार्यः प्रयोक्तृभिः ।
कस्मादभिनयो ह्यस्मिन्नर्थोऽपेक्षी यतः स्मृतः ॥[2]

निष्कर्ष

आचार्य भरत ने वाचिक अभिनय का नाट्यकर्ता तथा अभिनेता दोनों की दृष्टि से व्यापक रूप में चिन्तन किया है । कोई पक्ष अछूता नहीं रह सका है । नाट्य-रचना से सम्बन्धित सभी विषयों का सांगोपांग विवेचन करके कवि या निर्देशक

---

1. उत्तररामचरित, अंक 1, पृ0 65-66

2. नाट्यशास्त्र 19,61

को भरत ने व्यापक दृष्टि प्रदान की है । दूसरी ओर अभिनेता को वाचिक अभिनय के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम तथ्यों से परिचित कराना है । भाव एवं रसों के अनुसार अभिनेता किस प्रकार संवाद का प्रस्तुतीकरण करे कि सम्प्रेषण उचित प्रकार से हो, इसका आचार्य भरत ने स्पष्ट रूप से निर्देश किया है । इस प्रसंग में स्वयं ही कहते हैं -

"वर्जितं काव्यदोषैस्तु लक्षणाढ्यं गुणान्वितम् ।
स्वरालङ्कारसंयुक्तं पठेत् पाठ्य यथाविधि ।।
एवमेतत्स्वरकृतं कलाकाललयान्वितम् ।
दशरूपविधाने तु पाठ्यं योज्यं प्रयोक्तृभिः ।।"[1]

---------::0::---------

1. नाट्यशास्त्र 19/75,77.

षष्ठ अध्याय

आहार्य अभिनय

सिद्धान्त एवं प्रयोग

आहार्याभिनय - स्वरूप-विवेचन

आहार्याभिनय सम्पूर्ण रंगकर्म में संवलित होकर उनमें अपने रंगों की सुषमा को भरकर नाट्यकर्म को हृदयावर्जक बना देता है। आहार्याभिनय मात्र अभिनेता से ही सम्बन्धित नहीं होता, अपितु यह रंगमंच पर नाट्य की पृष्ठभूमि भी तैयार करता है। आहार्याभिनय के द्वारा अभिनेता एवं रंगमंच के माध्यम से ऐसे पर्यावरण का सृजन होता है कि सहृदय उस देश एवं काल को अपने सम्मुख पाता है तथा दृश्य-काव्य अपने सम्पूर्ण अर्थों में चरितार्थ हो उठता है। दर्शक को कल्पना का आश्रय नहीं लेना पड़ता है और सब कुछ उसके नेत्रों के समक्ष जीवन्त हो उठता है। नेपथ्य-रचना का विधान आहार्याभिनय कहलाता है। भरतमुनि नाट्य-निर्देशक होने के कारण आहार्य अभिनय के महत्त्व से भलीभाँति परिचित थे। अतएव उनका मत है कि समग्र नाट्य-प्रयोग आहार्य अभिनय पर निर्भर करता है।[1] इसलिये नाट्य-प्रयोग की सफलता की आकांक्षा करने वाले जनों के लिये इस पर अधिक ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है।[2] चूँकि आहार्याभिनय नाट्य-प्रस्तुति के बाह्य पक्ष अलंकरण का साधन है, इसलिये इसे अन्य अभिनय-प्रभेदों की अपेक्षा न्यून माना जा सकता है। तथापि आहार्याभिनय का महत्त्व अत्यधिक है। इसके महत्त्व का समर्थन करते हुये अभिनवगुप्तपाद ने कहा भी है कि आहार्याभिनय नाट्य का ठीक उसी प्रकार आधार है जिस प्रकार भित्ति चित्र-रचना का आधार है। समस्त अभिनय-व्यापार के पश्चात् भी

---

1. आहार्याभिनयं विप्रा व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।
   यस्मात् प्रयोगः सर्वोऽयमाहार्याभिनये स्थितः ॥
   नाट्यशास्त्र, 23/1.

2. आहार्याभिनयो नाम ज्ञेयो नेपथ्यजो विधिः ।
   तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यस्य शुभमिच्छता ॥
   नाट्यशास्त्र 23/2.

नेपथ्यज विधि द्वारा प्रस्तुत पात्र के वेश-विन्यास, अंगरचना और वर्णविधि का प्रभाव प्रेक्षक के हृदय पर विशेष रूप से पड़ता रहता है ।[1]

पात्र का वेश-विन्यास, अलंकार, परिधान, अंगरचना तथा रंगमंच पर निर्जीव लौकिक पदार्थों और सजीव जन्तुओं का नाट्यधर्मी प्रयोग आहार्याभिनय के अन्तर्गत आता है ।[2] नेपथ्यविधान नाट्यप्रदर्शन का अलंकारभूत ही है ।[3]

अभिनय का चरमोत्कर्ष अभिनेता के द्वारा अपने-अपने कर्म (अभिनय) से तादात्म्य है । अभिनेता की इस साधना में आहार्य अभिनय प्रथम सोपान है ।

---

1. नाट्यशास्त्र, भाग 2, अभिनवभारती, पृ० 109.

2. वर्णाद्यनुक्रिया ऽऽहार्यो बाह्यवस्तुनिमित्तकः वर्णः श्वेतादिः, आदिशब्दात् रस-गन्धाकल्पायुध्याहनाद्याधिवपनदीनगरवनपक्षिद्विपदचतुष्पदप्रासादपर्वतादर्गहः बाह्य-शरीरव्यतिरिक्त भस्मधातुकुङ्कुमहरितालमषीमृत्तिकावस्त्रवेणुदलादिकं निमित्तम-स्येति । वाचिकादयस्तु शरीरनिमित्ता इति भेदः । अयं च देशकालकुलप्रकृतिदशा-स्त्रीत्वपुंस्त्वकण्ठत्वादौचित्यानुसरतो विधेय इति ।

नाट्यदर्पण, 3/153.

3. क. नाट्यस्येह त्वलङ्कारो है नेपथ्यं यत् प्रकीर्तितम् ।

नाट्यशास्त्र 23/4.

ख. आहार्यो हारकेयूरवेषादिभिरलङ्कृतः ।

अभिनयदर्पण, 40.

आहार्यो हारकेयूरकिरीटादिविभूषणम् ।

संगीतरत्नाकर, 7/21.

ग. आहार्याभिनयो नाट्योचितालङ्कारधारणम् ।

प्रतापरुद्रीयम् नाटक प्रकरण, पृ० 121-122.

शरीर को आहार्य के द्वारा उसके स्वाभाविक रूप को ढकना यह नियम नाट्यधर्म की परम्परा के अनुसार नाटकीय पात्रों पर लागू होता है । क्योंकि ये जिस भूमिका को धारण करते हैं उसी के अनुसार शरीर को रखा जाता है । यह वैसा ही है जैसे आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है तब जैसे वह दूसरी अवस्था में हो, ऐसी बन जाती है । इसी प्रकार रंग तथा वस्त्रों से आच्छादित शरीर वाला अनुकर्ता भी जिसकी भूमिका धारण करता है, उसी के भावों, आचारों तथा चेष्टाओं का अनुसरण करता है तथा वही बन जाता है ।[1]

आचार्य भरत ने आहार्य अभिनय के अन्तर्गत नेपथ्य की चार विधाओं का उल्लेख किया है :-

1. पुस्त-रचना अर्थात् नमूने की वस्तु का निर्माण
2. अलंकरण
3. अङ्गरचना तथा
4. सज्जीव (जीवित प्राणियां)[2]

पुस्त-रचना

आहार्य अभिनय के अन्तर्गत नाट्य में वर्णित वातावरण का सृजन इस प्रकार

---

1. वर्णमाच्छादनं स्वं स्ववेशपरिवर्जितम् ।
   नाट्यधर्मप्रवृत्तस्तु ज्ञेयं तद् प्रकृतिस्थितम् ।।
   स्ववर्णमात्मनश्छाद्य वर्णकैर्ध्वजांश्रयैः ।
   आकृतिस्तस्य कर्तव्या यस्य प्रकृतिरास्थिता ।।
   नाट्यशास्त्र 23/84-85.

2. नाट्यशास्त्र 23/5.

रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है कि वातावरण अपने देश एवं काल के अनुरूप सजीव हो उठे । सहृदय को नाट्य में वर्णित वातावरण में ले जाने में आहार्य-अभिनय अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है । किन्तु यथार्थ के अनुरूप रंगमंचीय वातावरण का सृजन अत्यन्त दुष्कर कार्य है । इस जटिलता से भरतमुनि भलीभाँति परिचित थे अतः उन्होंने पुस्त-रचना के अन्तर्गत इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया । इस रचना के द्वारा मात्र अभिनेता को ही नहीं, अपितु निर्देशक को भी एक दृष्टि प्राप्त होती है दुष्कर प्रतीत होने वाला कार्य भी सहज सिद्ध हो जाता है । विविध रूप तथा प्रमाणों के अनुसार रहने पर भी भरत के द्वारा पुस्त के तीन प्रकार माने गये हैं - ‡1‡ सन्धिम ‡2‡ व्याजिम तथा ‡3‡ वेष्टिम ।[1]

सन्धिम - पुस्त रचना

दो भागों को जोड़कर बनाई जाने वाली पुस्त-रचना सन्धिम कहलाती है ।[2] बाँस, भूर्जपत्र, चमड़ा, वस्त्र, लाह, तथा पत्तियों आदि से नाट्य के उपयोगार्थ वस्तु का निर्माण किया जाता है । रंगमंच पर प्रासाद, दुर्ग, वाहन, रथ, हाथी, घोड़ा जैसी वस्तुओं की प्रस्तुति कथावस्तु की माँग के अनुसार अनिवार्य हो जाती है । स्पष्ट है कि इन वस्तुओं को यथार्थ रूप में रंगमंच पर प्रस्तुत करना असम्भव है । अतः इस दृष्टि से संधिम पुस्त रचना अत्यन्त उपयोगी है ।

प्रयोग पक्ष

अभिज्ञान शाकुन्तलम् के प्रथम अंक में आहार्य-अभिनय की संधिम पुस्त रचना

---

1. नाट्यशास्त्र 23/6.

2. अभिनवभारती, भाग 3, पृ0 109.

के प्रयोग पक्ष का उदाहरण प्राप्त होता है -

ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च। ।[1]

इस अवसर पर रथ एवं मृग दोनों का ही सांकेतिक प्रतीक संधिम-पुस्त रचना के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जायगा ।

'मृच्छकटिकम्' में वसन्तसेना के भवन की शोभासम्पन्नता के वर्णन का प्रसंग आता है । उसके भवन का निर्माण भी इसी विधि द्वारा किया जायगा -

'विदूषक: - भो: । इतोऽपि प्रथमे प्रकोष्ठे शशिशङ्खमृणालसच्छाया:, विनिहितचूर्णमुष्टिपाण्डुरा: विविधरत्नप्रतिबद्धकाञ्चनसोपानशोभिता: प्रासादपङ्क्तय: अवलम्बितमुक्तादामभि: स्फटिकवातायनमुखचन्द्रैर्निरूपयन्तीवोज्जयिनीम् ।[2]

<u>व्याजिम</u>

संधिम पुस्त-रचना द्वारा निर्मित सांकेतिक प्रतीक स्वत: चालित नहीं हो सकते हैं । अत: उनकी गति का विधान करने के लिये व्याजिम विधि का विवेचन भरत-मुनि ने किया है । व्याजिम से तात्पर्य है - रस्सी से खींचकर उसे प्रस्तुत किया जाने वाला कार्य या निर्माण । यांत्रिक साधनों से रंगमंच पर सांकेतिक प्रतीकों को गति प्रदान की जाती है ।[3]

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक 1, पृ0 14.
2. मृच्छकटिकम् , अंक 4, पृ0 232.
3. नाट्यशास्त्र, 23/8.

प्रयोग पक्ष

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में -

'राजा - सूत, दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः ।

अयं पुनरिदानीमपि -

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥[1]

इस स्थल पर रथ तथा मृग दोनों का गतिविधान व्यायाम-पुरश्चरणा से किया जायेगा ।

उत्तररामचरित का यह प्रसंग भी इसी विधि से सम्पन्न होगा -

'रामः - सखि वासन्ति, पश्य पश्य । कान्तानुवृत्तिचातुर्यमपि शिक्षितं वत्सेन -

लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु सम्पादिताः
पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूषसंक्रान्तयः ।
सेकः शीकरिणा करेण विहितः कामं विरामे पुन-
र्यत्स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम् ।।[2]

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/7.
2. उत्तररामचरित, 3/16.

वेष्टिम

जहाँ पर नाट्योपयोगी सांकेतिक प्रतीक का स्वरूप किसी वस्तु के द्वारा आवेष्टित किये जाने पर होता है वहाँ वेष्टिम पुस्त-रचना प्रयोग में लाई जाती है । इस विधि में वस्त्रादि को आवेष्टित कर प्रयोग में लाया जाता है अथवा लकड़ी या लाख की परत चढ़ाकर निर्माण किया जाता है ।[1] वेष्टिम पाठ भी प्राप्त होता है । इसके अनुसार भौतिक पदार्थों का ज्ञान उन्हीं की चेष्टा के अनुरूप प्रदर्शन से संकेतित किया जाता है ।

प्रयोग पक्ष

नाट्य प्रयोगों में पर्वत, यान, विमान, ढाल, कवच, ध्वज तथा हाथी आदि का निर्माण वेष्टिम के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है ।[2] पर्वत का प्रयोग उत्तररामचरित के तृतीय अंक में प्राप्त होता है -

'रामः - मेघमालेव यश्चायमारादिव विभाव्यते ।
गिरिः प्रस्रवणः सोऽयं यत्र गोदावरी नदी ॥[3]

अन्यत्र विमान प्रयोग -

'रामः - ।पुष्पकं प्रवर्तय। भगवति पञ्चवटि, ।

तृतीय अंक में हाथी का प्रयोग भी मिलता है -

'रामः - 'सोऽयं पुत्रस्तव मदमुचां वारणानां विजेता ।
यत्कल्याणं वयसि तरुणे भाजनं तस्य जातः ।।[4]

इन पर्वत तथा विमानादि का निर्माण वेष्टिम विधि द्वारा किया जा सकता है।

1. नाट्यशास्त्र 23/8.
2. नाट्यशास्त्र 23/9.
3. उत्तररामचरितम् 2/24
4. उत्तररामचरितम् 3/15.

इन सभी का निर्माण वेष्टिम-विधि द्वारा किया जा सकता है। कुन्द पुष्पों की माला पर दिङ्नागकृत नाटक कुन्दमाला का नाम आधारित है।

नाट्यशास्त्र में पाँच प्रकार की पुष्पमालाओं के नामों का उल्लेख प्राप्त होता है - (1) वेष्टित (2) वितत (3) संघात्य (4) ग्रन्थित तथा (5) प्रलम्बित।[1] भरत ने इनका मात्र नामोल्लेख किया है, किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने इनका स्वरूप स्पष्ट किया है। वेष्टित माला हरीपत्तियों तथा पुष्पों दोनों को एक साथ गूँथकर बनाई जाती है। वितत माला प्रसृत रहती है। संघात्य माला में पुष्पों के डंठल अदृश्यभाव बाँधकर गूथे जाते हैं। ग्रन्थित में केवल पुष्पों को गूँथकर माला बनाते हैं। प्रलम्बित माला लम्बी और लटकी हुई होती है।[2]

<u>आभूषण परिधान</u>

नाट्य-प्रयोगार्थ शरीर पर चार प्रकार के आभूषण धारण किये जाते हैं - आवेध्य, बन्धनीय, प्रक्षेप्य, आरोप्य।[3] आवेध्य अलंकार शरीर को बींधकर धारण किये जाते हैं। कुण्डलादि कानों में धारण किये जाने वाले अलंकार आवेध्य हैं।[4] बाँधे जाने वाले अलंकार बन्धनीय होते हैं। जैसे - करधनी तथा भुजबन्ध इत्यादि। ऊपर से शरीर पर स्थापित किये जाने वाले भूषण प्रक्षेप्य होते हैं। जैसे - नुपुर तथा वस्त्रादि। जिन अलंकारों

---

1. नाट्यशास्त्र 23/11
2. नाट्यशास्त्र (मा०ओ०सी०) अभिनवभारती, भाग 3, पृ० 110-111.
3. नाट्यशास्त्र 23/12
4. नाट्यशास्त्र 23/13.

को ऊपर से पहना जाता है वे आरोप्य कहलाते हैं । जैसे - सोने के सूत्र एवं विभि-
न्न हार ।[1]

आचार्य भरत ने पुरुष तथा स्त्रियों के द्वारा रुचि, स्थिति तथा जाति के अनुसार धारण किये जाने वाले विविध अलंकारों का वर्णन प्रस्तुत किया है ।[2] इस विवरण के द्वारा तत्कालीन सामाजिक रहन-सहन का अमूल्य विवरण उपलब्ध होता है । तत्कालीन समाज में आभूषणप्रियता मात्र स्त्रियों में ही नहीं थी, अपितु पुरुषों को भी आभूषण प्रिय थे ।

आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत पात्रानुसारी आहार्य-अभिनय का विवेचन अत्यन्त व्यापक है । सभी तरह के पात्रों के अनुरूप आहार्य का विधान किया गया है । इस आहार्य को स्त्रीपात्रों एवं पुरुषपात्रों के अनुरूप दो भागों में विभाजन कर पृथक् पृथक् विधान किया गया है । यह स्त्री एवं पुरुष पात्रों के लिये किया गया पृथक् पृथक् विवेचन निर्देशक के कार्य को सहज बना देता है । आहार्य से सम्बन्धी सूक्ष्म से सूक्ष्मतम तत्त्वों का विवेचन आहार्याभिनय के अन्तर्गत किया गया है । जैसे केश-सज्जा, श्मश्रु विधान इत्यादि । कुछ विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जैसे-जाति एवं देश के अनुरूप अंगरचना एवं वेशविन्यासादि । निर्देशक के लिये किसी देश एवं जाति की संस्कृति की रंगमंच पर जीवन्त रूप में प्रस्तुति एक जटिल समस्या है, पर यह समस्त विधान निर्देशक को अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है । भरत द्वारा प्रस्तुत पात्रा-नुसारी आहार्याभिनय के समस्त अंगों का विवेचन इस प्रकार है -

---

1. नाट्यशास्त्र 23/84.

2. नाट्यशास्त्र 23/15.

नारी - आहार्याभिनय: सिद्धान्त एवं प्रयोग पक्ष

स्त्रियों के अलंकार

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की अलंकार-प्रियता अधिक प्रति.. है । उस समय के ..परिवेश में अलंकारों के प्रति आकर्षण अधिक विद्यमान था । आचार्य भरत ने अपने युगानुरूप स्त्रियों के अलंकारों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है । अलंकार अंगों में विद्यमान लावण्य की शोभा में वृद्धि करते हैं । अत: अभिनय करने वाले पात्र के लिये देश काल या अपनी अवस्था के अनुरूप अलंकार धारण करना चाहिये जिससे नाट्य की अभिव्यक्ति स्वाभाविक प्रतीत हो ।

आचार्य भरत ने स्त्रियों के नख से शिखा तक के अलंकारों का विवेचन किया है । शिखा-पाश, शिखा पत्र, पिण्डी (पिण्ड) पत्र, (खण्ड यन्त्र), खण्ड-पत्र, चूड़ामणि, मकरिका, मुक्ताजाल, गवाक्ष तथा विविध प्रकार के शीर्ष जाल मस्तक पर धारण करने के आभूषण होते हैं । ललाट पर धारण किये जाने वाले तिलक नामक भूषण विविध स्वरूप वाले होने चाहिये ।[1]

शिखा व्याल को अभिनवभारती में स्पष्ट करते हुये कहा गया है -

'नागग्रन्थिशिल्पनिबद्धो मध्ये कर्णिकास्थानीयम् ।'

इसी प्रकार पिण्डी पत्र नामक अलंकार के स्पष्ट करते हैं -

'तस्यैव दलसन्धानतया विरचनानि वर्तुलानि पत्राणि पिण्डीपत्राणि ।'[2]

---

1. नाट्यशास्त्र 23/22-23

2. अभिनवभारती, पृ0 112, भाग 3.

गवाक्ष का वर्णन कम मिलता है । मकरिका मकर पत्र नामक अलंकार है । मुक्ता-जाल जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है - मोतियों की जाली होती थी । कानों में धारण किये जाने वाले अलंकार ये हैं - कण्डक, शिखि पत्र, वेणीगुच्छ, मोचक, कर्णिका, कर्ण-वलय, पत्रकर्णिका, कुण्डल, कर्णमुद्रा, कर्ण भूषण, कर्णोत्कीलक तथा अनेक-रत्नों से जटित एवं विविध स्वरूपों में निर्मित दन्तपत्र । शिखि पत्र एक अत्यन्त आकर्षक आभूषण था । जैसा कि अभिनवगुप्त बताते हैं -

'शिखिपत्रं मयूरपिच्छाकारो विचित्रवर्णरचितः कर्णावतंसकः ।'[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि कर्णाभूषणों की रचना नामानुरूप ही रही होगी किन्तु उनके स्वरूप के बारे में विवरण प्राप्त नहीं है ।

कानों में अलंकार धारण करने का प्रसंग स्वप्नवासवदत्तम् में प्राप्त होता है -

'चेटी - x x x । अम्मो इयं भर्तृदारिका
उत्कृतकर्णचूलिकेन व्यायामसञ्जातस्वेद -
बिन्दुविचित्रितेन xx xx एवागच्छति ।'[2]

प्राचीन काल में कपोलों पर भी अलंकरण किया जाता था । आजकल भी विवाहादि के अवसर पर इस तरह का अलंकरण दृष्टिगत होता है । तिलक तथा पत्रलेखा कपोल का धारण करने वाले आभूषण हैं । त्रिवेणी वक्षस्थल का आभूषण है होता है ।[3] नेत्रों की शोभा अञ्जन से तथा ओष्ठों की रंजन से बढ़ाई जाती है।

---

1. अभिनवभारती, पृ0 113, भाग 3.
2. स्वप्नवासवदत्तम् , अंक 2, पृ0 70.
3. नाट्यशास्त्र, 23/27.

नेत्रों में काजल का प्रयोग वियोगावस्था में नहीं होता था । स्वप्नवासवदत्तम् में ऐसा प्रसंग आता है -

'राजा - न न,

स्वप्नस्यान्ते विबुद्धेन नेत्रविप्रोषिताञ्जनम् ।
चारित्रमपि रक्षन्त्या दृष्टं दीर्घालकं मुखम् ॥'[1]

तथा वेणीसंहार में प्राप्त उल्लेख के अनुसार उपवासादि की स्थिति में ओष्ठों का रञ्जन नहीं किया जाता था -

'राजा - वक्त्रेन्दुं ते नियमुषितालक्तकाङ्कधरं वा' ।[2]

स्त्रियों के सौन्दर्य वृद्धि हेतु दाँतों के अलंकरण का भी भरत ने विधान किया है । चार सामने के दाँतों को अर्थात् दो ऊपर वाले और दो नीचे वाले दाँतों की पंक्ति का विविध वर्णों में रंगना शुभ्रवर्ण की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य में वृद्धि करता है।

आचार्य भरत के अनुसार - किसलय की प्रभा वाले रक्त अधरों के मध्य मुक्ता की शुभ्र वर्ण की दन्त-पंक्तियाँ स्मित की दीप्ति से भासित होकर अत्यन्त हृदयावर्जक हो जाती हैं, अथवा दन्तपंक्तियों को कमल के सदृश रक्तवर्ण में भी रंजित किया जा सकता है ।[3] मुक्तामाला, व्यालपंक्ति, मंजरी, रत्नमाला, रत्नसर, रत्नावलि तथा दो, तीन या चार लड़ियाँ या शृंखलिका की तरह के आभूषण ग्रीवा में धारण किये जाते हैं । व्यालपंक्ति सर्प के आकार का आभूषण होता था । मंजरी सुवर्ण

---

1. स्वप्नवासवदत्तम् , अंक 5, पृ0 176.
2. वेणीसंहार, 2/18.
3. नाट्यशास्त्र, 23/28-30.

अथवा रत्नमंडित आभूषण था । रत्न-माला रत्ननिर्मित छोटी मालिका होती थी। रत्नावली रत्नों की बड़ी माला थी । रत्नावली नाटिका का नाम नाटिका में रत्नावली आभूषण की प्रमुख भूमिका होने के कारण ही पड़ा है ।

'राजा - (गृहीत्वा रत्नमालां निर्वर्ण्य हृदये निधाय)

अहह -

कण्ठाश्लेषं समासाद्य तस्याः प्रभ्रष्टयाऽनया ।
तुल्यावस्था सखीवेयं तनुराश्वास्यते मम ॥

तथा -

'वसुभूतिः (विदूषकस्य कण्ठे रत्नमालां दृष्ट्वा पवार्य) '
बाभ्रव्य । जाने सैवेयं रत्नमाला या देवेन
राजपुत्र्यै प्रस्थानकाले दत्ता ।'[1]

रत्नावली का प्रयोग मृच्छकटिकम् में भी आता है -

'वधूः - '...... स च न प्रतिग्राहितः, तत्तस्य कृते
प्रतीच्छेमां रत्नामालिकाम् ।'

अन्यत्र इसी को विदूषक रत्नावली भी कहता है -

'..... चतुःसमुद्रसारभूता रत्नावली दीयते ।'[2]

---

1. रत्नावली अंक 4, पृ० 213-14, पृ० 234.
2. रत्नावली 1/17.
3. वेणीसंहार, 2/22.
2. मृच्छकटिक, अंक 3, पृ० 137.
5. नाट्यशास्त्र, 23/35.

अंगद तथा वलय बाहु के भूषण हैं । रत्नों का हार तथा मणिनिर्मित जाली वक्षस्थल के अलंकरण होते हैं ।[1] रत्नावली में स्त्रियों के द्वारा धारण किये जाने वाले आभूषण - हार, नूपुर इत्यादि का उल्लेख आता है -

राजा - (निर्वर्ण्य सविस्मयम्) अहो निर्भरः क्रीडारसः परिजनस्य ।

तथा हि -

'स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितामाकुलः केशपाशः क्षीबायां नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दतः पादलग्नौ । व्यस्तः कम्पानुबन्धादनवरतमुरो हन्ति हारोऽयं मस्याः ।[2]

× × × × × × × ×

वेणीसंहार में भी भानुमती द्वारा हार धारण का प्रसंग है -

'राजा - × × × उरः क्षिप्तहारं दुनोति ।'[3]

अंगद तथा वलय बाहु मूल के भूषण हैं । कर्पूर तथा सोच्छितिकं जिनका अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता बाहु के आभूषण हैं । कटक कलशाखा, हस्तपत्र, सुपूरक तथा मुद्रा, अंगुलीयक अंगुलियों के आभूषण हैं ।[1] मौक्तिक जालों से युक्त रसना, मेखला तथा तलक कटि के अलंकार हैं । कांची एक लड़ी की मेखला तथा रसना आठ लड़ों की, रसना सोलह लड़ों की भी तथा कलाप पच्चीस लड़ों की बनाई जाती है ।[2] देख

नागानन्द में कांची के प्रयोग का स्थल प्राप्त होता है -

'आ ग्यात्पुमस्पुर्न निसम्बभरतः कान्चाऽनया किं पुनः ।'[4]

---

1. नाट्यशास्त्र 23/33-34
2. रत्नावली 1/17
3. वेणीसंहार 2/22
4. नागानन्द 2/6

देवपत्नी, महादेवी तथा महारानियों की मोती की मालाएं, बत्तीस, चौंसठ तथा एक सौ आठ लरों की होती है। नूपुर, किंकणी, रत्नजाल, घण्टिका नामक भूषण गुल्फ के ऊपर धारण किये जाने वाले अलंकार होते हैं।[1] नूपुर के प्रयोग का उदाहरण मृच्छकटिक के प्रथम अंक में विट के कथन से मिलता है -

'कामं प्रदोषतिमिरेण न दृश्यसे त्वं
सौदामिनीव जलदोदरसन्धिलीना ।
त्वां सूचयिष्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं,
गन्धश्च भीरु मुखराणि च नूपुराणि ॥'[2]

रत्नावली में भी नूपुरधारण का प्रसंग है -

'विदूषकः - (आकर्ण्य) भो वयस्य, नैते मधुकरा नूपुरशब्दमनुहरन्ति ।
नूपुरशब्द एवैष देव्याः परिजनस्य ।'[3]

ऊरु का आभूषण पादपत्र होता है। अंगुलियों का अंगुलीयक तथा अंगूठे का तिलक पैरों के आभूषण होते हैं।[4] अभिनवगुप्त ने 'तिलका इति विचित्र-रचना कृताः' कहकर तिलक की व्याख्या प्रस्तुत की है। स्त्रियों के पैरों को अशोक के पल्लव के सदृश रक्तिम वर्ण के महावर के द्वारा अनेक प्रकार से चित्रित करने का भी विधान था।[5] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में इसका उल्लेख मिलता है -

---

1. नाट्यशास्त्र, 23/38.
2. मृच्छकटिकम् 1/35
3. रत्नावली, अंक 1, पृ0 52.
4. नाट्यशास्त्र, 23/40-41
5. नाट्यशास्त्र, 23/41-42.

'द्वितीयः शिष्यः ....
निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित् ।'[1]

तथा रत्नावली में महावर के प्रयोग का स्थल प्राप्त होता है -

'राजा - (पादयोः पतितः)

आताम्रतामनयामि विलक्ष एष,
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना ।'[2]

भारत देश विभिन्न संस्कृतियों की संगम-स्थली है । यह एक ऐसा मनोहारी उद्यान है, जहाँ विभिन्न संस्कृति के लोग अपने सौरभ एवं सुषमा से समस्त दिशाओं को सुवासित करते रहते हैं । आचार्य भरत के विविध संस्कृतियों के लोगों की वेश-भूषा के विधान से तत्कालीन भारत मानों नेत्रों के सम्मुख जीवन्त हो उठता है । प्राचीन भारत आज की तरह का नहीं था । यहाँ पर अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य थे । जिनके रहन सहन में पर्याप्त अन्तर था । आचार्य भरत ने उन सभी का अत्यन्त सूक्ष्म एवं सर्वांगीण विवरण प्रस्तुत किया है ।

<u>दिव्य एवं मनुष्येतर नारी का आहार्यः सिद्धान्त एवं प्रयोग</u>

रंगमंच पर प्रवेश के साथ ही दर्शकों को पात्रों की प्रत्यभिज्ञा हो सके इसके लिये आचार्य भरत ने नारी पात्रों के दो विभाग कर दिये हैं - (1) दिव्य एवं मनुष्येतर नारियाँ, (2) मानुषी नारियाँ । दिव्य एवं मनुष्येतर नारियों में विद्याधर, यक्षी, नाग, अप्सरायें, ऋषि, देवकन्यायें, तथा सिद्ध, गन्धर्व, राक्षस, असुर

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/5.
2. रत्नावली 3/14.

एवं वानर स्त्रियाँ आती हैं । इन सभी का अलग-अलग वेशभूषा का विधान किया गया है । जिससे यह ज्ञात हो सके कि दिव्य स्त्रियों में से अथवा मनुष्येतर नारियों में से कौन सी नारी है । इन नारियों में विद्याधर स्त्रियों का वेश शुभ्र वस्त्र युक्त होना चाहिये एवं अलंकरण मोती के होने चाहिये । शिखर वाले जूड़े के द्वारा केश-सज्जित किये जाने चाहिये ।[1] उत्तररामचरित में विद्या धरी स्त्री का प्रसंग प्राप्त होता है -

"ततः प्रविशति विमानेनोज्ज्वलं विद्याधरमिथुनम्। "[2]

यक्ष स्त्री तथा अप्सराओं के अलंकार रत्नजटित होते हैं इनकी केशसज्जा सादी शिखा द्वारा होती है तथा वेशभूषा विद्याधरी की तरह ही होती है । कालिदास विरचित विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी अप्सरा ही है जो कि शाप के कारण मृत्युलोक में आती है ।[4] नागस्त्रियों का आभूषण भी दिव्य स्त्रियों के सदृश मणि एवं मोती से जटित होते हैं, परन्तु इन अलंकारों पर फण बना रहता है, जो कि संभवतया नाग-स्त्री होने का संकेत प्रदान करने के लिये होता है ।

नागानन्द के तृतीय अंक में शंखचूड़ नामक सर्प की माता का प्रसंग आता है । इसका आहार्य नाग स्त्रियोचित ही होगा । गरुड़ के भोजन के लिये शंखचूड़ सर्प की बारी होने के कारण उसकी माता को विलाप करते हुये दिखाया गया है । अतः अलंकरण नहीं होगा । ऋषि कन्या के लिये एक वेणी का विधान है तथा अलंकरण का निषेध है । इनका वेश वन निवास के अनुरूप ही होना चाहिये ।[5] विश्वप्रसिद्ध

---

1. नाट्यशास्त्र 23/53
2. उत्तररामचरित, अंक 6, पृ0 292.
3. नाट्यशास्त्र 23/54
4. विक्रमोर्वशीयम् अंक 3.
5. नाट्यशास्त्र 23/56.

अभिज्ञानशाकुन्तलम् की नायिका ऋषि कन्या ही है । वननिवास के अनुरूप ही उसका आहार्य है -

'राजा - सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥[1]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में ही अनुसूया एवं प्रियंवदा ऋषिकन्या होने के कारण अलंकारों के प्रयोग से अनभिज्ञ हैं -

'सख्यौ - अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः ।

चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरणविनियोगं कुर्वः ।'[2]

सिद्ध स्त्रियों के भूषण मोती तथा मरकत मणियों से जटित होते हैं तथा वस्त्र पतिवर्ण के होते हैं । नागानन्द में विद्याधर जीमूतवाहन का प्रेम एवं विवाह सिद्धकुमारी मलयवती से वर्णित है । अतः सिद्धकुमारी मलयवती का आहार्य इसी प्रकार किया जायेगा ।

गन्धर्व स्त्रियों के भूषण पद्मराग मणि जटित वस्त्र केसरिया वर्ण के तथा हाथ में वीणा होती है ।[3] राक्षस स्त्रियों के अलंकार नीलम के होते हैं । इनके दाँत श्वेत तथा वस्त्र नीले वर्ण के होते हैं ।[4] भारतीय परम्परा में श्याम रंग तामसी प्रवृत्ति का सूचक माना जाता है । संभवतया आचार्य भरत ने क्रूर सत्त्व

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तल 1/20.
2. अभिज्ञानशाकुन्तल अंक 4, पृ0 224.
3. नाट्यशास्त्र 23/57
4. नागानन्द 3/4

की प्रतीक राक्षस जाति के लिये इस तरह का आहार्य विधान इसी परम्परा को दृष्टि में रखकर किया है । वेणी संहार में राक्षस एवं राक्षसी का वार्तालाप तृतीय अंक में वर्णित है -

'ततः प्रविशति विकृतवेषा राक्षसी ।।'[1]

भास रचित मध्यम व्यायोग में भीम एवं राक्षस जाति की हिडिम्बा का पुनर्मिलन वर्णित है । यहाँ पर इनका आहार्य इसी विधि से किया जायेगा । देवियों के आहार्य में आभूषण मोती तथा वैदूर्य मणि-जटित होते हैं तथा वस्त्र शुक-पिच्छ वर्ण के होते हैं ।[2] उत्तररामचरित में इन देवियों का आहार्य इसी भाँति होगा -

ततः प्रविशति उत्सङ्गितैकैकदारकाभ्यां पृथ्वीगङ्गाभ्यामवलम्बिता प्रमुग्धा सीता ।[3]

दिव्य तथा वानर स्त्रियों के अलंकार कभी पुखराज के तथा कभी वैदूर्यमणि के होते हैं, तथा वस्त्र नीले रंग के होते हैं ।

वस्तुतः दिव्यस्त्रियों का इस प्रकार का आहार्य रागात्मक मनःस्थिति में ही होता है अन्य अवस्थाओं में इनके वस्त्र श्वेत वर्ण के ही होते हैं ।[4] वस्तुतः दिव्यपात्रों का नाटकों में प्रयोग मानवीकरण के द्वारा एवं रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण मानव के द्वारा ही किया जाता है । नाट्यों में मानवगत भावों से ही इन दिव्य-पात्रों को सम्पृक्त किया जाता है । अतः जिस प्रकार सुख-दुःखात्मक परिस्थितियाँ

---

1. वेणीसंहार, अंक 3, पृ0 137.
2. नाट्यशास्त्र 23/60
3. उत्तररामचरित, अंक 7
4. नाट्यशास्त्र 23/62.

मानव को प्रभावित करती हैं, उसी प्रकार दिव्य पात्रों को भी प्रभावित करती हैं, ऐसी कवियों की मान्यता चली आ रही है । इसलिये दिव्यपात्रों का आहार्य भी उनकी मन:स्थिति के अनुकूल ही रखा जायेगा, किन्तु दिव्य पात्रों को मानवीय पात्रों से पृथक् करने के लिये इनके लिये विशिष्ट आहार्य का विधान किया गया है, जो कि अभिनय की जटिलताओं को देखते हुये अत्यन्त उपयुक्त है ।

मन:स्थिति एवं नारी आहार्य

मनुष्य की चित्तवृत्ति के अनुरूप ही उसका वेश-विन्यास ही लोक में देखा जाता है । विषादयुक्त मन वाला मनुष्य कभी भी अत्यधिक अलंकृत मुद्रा में रहना पसन्द नहीं करता है । इसीलिये रंग कर्म में भी इस तथ्य को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है । आचार्य भरत स्वयं ही कहते हैं कि अलंकारों को उचित प्रकार से न धारण करने पर वे हास्य की ही सृष्टि करते हैं ।[1] अत: अवस्था के अनुरूप वेषविधान अत्यन्त आवश्यक हैं । प्रोषितभर्तृका या विषादग्रस्त स्त्रियों को मलिन वेश तथा एक वेणीयुक्ता होना चाहिये ।[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम् सप्तम अंक में दीर्घ व्रत को धारण करने वाली शकुन्तला का वेष-विधान इसी प्रकार का है -

'(तत: प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला ।)'

राजा - वैषा -

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखीधृतैक वेणि: ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥[3]

---

1. नाट्यशास्त्र 23/70
2. नाट्यशास्त्र 23/71
3. अभिज्ञानशाकुन्तल 7/21.

'विप्रलम्भ' दशा में स्त्रियों का शुभ्रवेश होता है तथा इनके शरीर पर आभूषण का अभाव रहता है।[1] मन की व्याकुलता बाह्य स्थिति से ही प्रकट होती रहती है। स्वप्नवासवदत्तम् में उदयन से वियुक्त पद्मावती के यहाँ यौगन्धरायण द्वारा धरोहर रूप में रखी गई वासवदत्ता का वेश-विधान ऐसा ही है -

> चेटी ----- अम्मो। इयं चिन्ताशून्यहृदया नीहारप्रतिहतचन्द्रलेखेवामण्डितभद्रकं वेषं धारयन्ती ------ ।[2]

मनुष्य की चित्तवृत्ति के अनुरूप ही क्रिया-कलाप लोक में भी दिखाई पड़ते हैं। यह सत्य है कि यदि प्रसंग दुःख का है और आहार्य आनन्द की अवस्था का, उस समय नाट्य की प्रस्तुति ही उपहसनीय हो जायेगी। भावों के उचित सम्प्रेषण के लिये मनःस्थिति के अनुकूल आहार्य अनिवार्य है। वस्तुतः यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तब तो समस्त आहार्याभिनय का लक्ष्य भावों की सफल प्रस्तुति ही है। नाटकीय भावार्थों के अनुरूप ही आहार्य का विधान नाट्य को सफल बना सकता है। समस्त मानवीय एवं दिव्य पात्रों का आहार्य भावानुसारी ही होना चाहिये। उत्तररामचरित में सीता को कष्ट से परितप्त दिखाया गया है। यदि उसको अतिशय अलंकृत दिखाया जायेगा तब उसके हृदय का गहन विषाद अपनी अभिव्यक्ति में असमर्थ रहेगा। अतः स्पष्ट है कि भावानुसारी आहार्य ही नाट्यार्थों को सफल रूप में सम्प्रेषित करने में पूर्णतया सक्षम हैं।

<u>नारी आहार्यः वेशसज्जाविधान</u>

दिव्य स्त्रियों के वेश तो कल्पना एवं प्रतीकों पर ही आधारित हैं, किन्तु मानवी स्त्रियों का वेशविधान आचार्य भरत की सूक्ष्म पर्यवेक्षिणी दृष्टि का परिचायक

---

1. नाट्यशास्त्र 23/72.
2. स्वप्नवासवदत्तम्, अंक 3, पृ0 86.

है । मध्यप्रदेश में विद्यमान मालव देश, जिसका प्राचीन नाम अवन्ती है, वहाँ की नारियों के केश अलकों से युक्त होने चाहिये । स्वप्नवासवदत्तम् में वासवदत्ता अवन्तिदेश की नारी के रूप में प्रवेश करती है -

'ततः प्रविशति परिव्राजकवेषो यौगन्धरायणः अवन्तिकावेषधारिणी वासवदत्ता च।[1]

अन्यत्र राजा कहता भी है -

राजा - 'चारित्र्यमपि रक्षन्त्या दृष्टं दीर्घालकं मुखम् ॥

उत्तर बंगाल का पड़ोसी मालदा प्रदेश का प्राचीन नाम गौड़ था । वहाँ की नारियों के केश अलकयुक्त, शिखापाशयुक्त अथवा वेणी के द्वारा सज्जित किये जा सकते हैं । आभीर जाति की नारियाँ अपने केश दो वेणियों से सुसज्जित करती हैं। पूर्वोत्तर प्रदेश की स्त्रियों की शिखायें समुन्नद्ध रहती हैं तथा वस्त्र के द्वारा शरीर केशों तक आच्छादित रहता है । दक्षिण की नारियों की केशसज्जा एवं वेश इस प्रकार होगा -

तथैव दक्षिणस्त्रीणां कार्यमुल्लेख्यसंश्रयम् ।
कुम्भीबन्धकसंयुक्तां तथावर्तललाटिकाम् ।।[2]

आचार्य के अनुसार गणिकाओं का अलंकार उनकी रुचि के अनुसार ही रहना चाहिये । यहाँ पर आचार्य का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि गणिका स्वच्छन्द प्रकृति की होती हैं, अतः उन पर कोई नियम नहीं लागू हो सकता है । मृच्छकटिक में चारुदत्त के पास अभिसार के लिये जाती हुई वसन्तसेना शुभ्र वेश धारण करती है-

---

1. स्वप्नवासवदत्तम् , अंक 1, पृ0 8, 5/10.

2. नाट्यशास्त्र 23/67-68.

'ततः प्रविशति उज्ज्वलाभिसारिकावेशेन
वसन्तसेना सोत्कण्ठा, छत्रधारिणी, विटश्च।'[1]

आचार्य विश्वनाथ ने वेश्या के अभिसार के समय की वेशभूषा का इस प्रकार विवेचन किया है -

चित्रोज्ज्वलवेषा तु रणन्नूपुरकङ्कणा ।
प्रमोदस्मेरवदना स्याद्वेश्याऽभिसरेद्यदि ॥[2]

इस प्रकार आचार्य भरत ने नारियों के आहार्य का सांगोपांग विवेचन किया है - जो कि यथार्थ एवं कल्पना का मिश्रण होने के कारण अत्यन्त सुन्दर होने के साथ ही अत्यन्त उपयोगी परम्परागत रूढ़ियों एवं कल्पना पर आश्रित होने से अत्यन्त आकर्षक है क्योंकि उसमें कलात्मक दृष्टि समन्वित है । मानवी स्त्रियों का आहार्य-विधान पर्याप्त रूप में यथार्थ रूप में ही गृहीत है । इसके अतिरिक्त आचार्य भरत ने कहा भी है कि जिनका आहार्य विधान नहीं किया गया है उन पात्रों का भी देशकालानुरूप आहार्य किया जाये ।

पुरुषोचित आहार्य: सिद्धान्त एवं प्रयोग

नारियों के आहार्य के सदृश ही आचार्य भरत ने पुरुषों के आहार्य का भी देश, जाति, वय एवं सामाजिक स्थिति के अनुकूल विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है -

पुरुषोचित-अलङ्कार

प्राचीन भारत का वैभव अत्यन्त विख्यात है । सम्पन्नता लोकजीवन से ही ज्ञात होती है, क्योंकि सभ्यता का विकसित रूप लोगों के रहन-सहन में ही

---

1. मृच्छकटिकम् अंक 5, पृ0 274.
2. साहित्यदर्पण, 3/78.

संवलित रहता है । आचार्य भरत के द्वारा प्रस्तुत पुरुषोचित अलंकार-विधान से तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति का दर्शन तो होता ही है, साथ में तत्कालीन भारत की झाँकी मानों नेत्रों के सम्मुख मूर्त्त हो उठती है ।

तत्कालीन समाज में लोग अपनी सामाजिक स्थिति के अनुकूल ही आभूषण धारण करते थे । पुरुषों के द्वारा आभूषण धारण करने के प्रसंग संस्कृत नाटकों में प्राप्त होते हैं । यथा - मुद्राराक्षस के प्रस्तुत स्थल में -

'राक्षसः - ।सहर्षम्। भद्र सिद्धार्थक, किं पर्याप्तमिदमस्य प्रियस्य ।
तथापि गृह्यताम् ।
।स्वगात्रादवतार्य भूषणानि प्रयच्छति।[1]

आचार्य भरत ने राजा एवं देवताओं के द्वारा धारण करने योग्य आभूषणों का विवेचन किया है । चूड़ामणि तथा मुकुट मस्तक पर धारण करने योग्य आभूषण हैं । कुण्डल, मोचक तथा कर्णपूल कान में धारण करने के आभूषण है ।[2] मौक्तिक-माला, हर्षक तथा सर कटक एवं अँगूठी अंगुलियों पर धारण करने के भूषण हैं ।[3] रत्नावली में राजा के द्वारा कटक धारण करने का प्रसंग प्राप्त होता है -

'राजा - ।सपरितोषम्। साधु वयस्य, साधु ।
इदं ते पारितोषिकम् । ।इति हस्तादवतार्य कटकं ददाति।'

संस्कृत-साहित्य में अँगूठी को लेकर दो अत्यन्त प्रसिद्ध रचनायें प्राप्त होती हैं - महाकवि-कालिदासरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' तथा विशाखदत्तरचित मुद्राराक्षस।

---

1. मुद्राराक्षस, अंक 2, पृ० 131.
2. नाट्यशास्त्र, 23/16
3. रत्नावली, अंक 3, पृ० 157.

दोनों ही नाटकों में अँगूठी की कथावस्तु को गतिशीलता प्रदान करने में निर्णायक भूमिका है । जैसे अभिज्ञानशाकुन्तलम् में -

'अनुसूया - x x x अस्ति ते राजर्षिणा संप्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम् । तस्मिन् स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति ।'[1]

मुद्राराक्षस में राक्षस की मुद्रा को प्राप्त कर लेने के पश्चात् चाणक्य अपनी कूटनीति में सफल होता है -

'चाणक्यः ।मुद्रामवलोक्य गृहीत्वा राक्षसस्य नाम वाचयति । सहर्षं स्वगतम्। ननु वक्तव्यं राक्षसस्य एवास्मदङ्गुलिप्रणयी संवृत्त इति । ।प्रकाशम्। भद्र, अङ्गुलिमुद्राधिगमं विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि ।'[2]

हस्तली तथा वलय बाहुओं के अलंकार होते हैं । वलय धारण का प्रसंग अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्राप्य है -

'राजा - अनभिज्ञुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात् ,
कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ।'[3]

रुचक उच्चित्तक या चूलिका कलाई के आभूषण हैं । केयूर तथा अंगद केहुनी के ऊपर धारण करने वाले अलंकार होते हैं । त्रिसर तथा हार वक्षःस्थल के आभूषण होते हैं । मोतियों की लम्बी लर तथा पुष्पों की माला सम्पूर्ण शरीर का आभूषण होती है । रसन तथा सूत्र कटि के आभूषण होते हैं ।

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् अंक 4, पृ0 200.
2. मुद्राराक्षस अंक 1, पृ0 47.
3. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/10.

आधुनिक संदर्भों में यह समस्त पुरुषोचित अलंकरण-विधान अप्रासंगिक हो गया है । आधुनिक युग में कतिपय अलंकरण यथा अंगूठी या कुंडलिका ही पुरुषों के अलंकरण रह गये हैं । वलय, केयूर, अंगद तथा त्रिसर आदि के द्वारा पुरुषों का अब अलंकरण नहीं किया जाता है । ये सभी अलंकार तत्कालीन समाज में अवश्य प्रचलित थे । अतः इनका विवेचन अत्यन्त आवश्यक था । प्राचीन नाटकों को अभिमंचित करने में आज भी ये विधान निर्देशक के मार्गदर्शक हैं । इसलिये ये विधान आज भी उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं ।

<u>पुरुषोचित वेशभूषा</u>

आचार्य भरत ने पुरुषोचित वेशभूषा का विवेचन करते समय, वेशों को तीन भागों में विभाजित कर दिया है - शुद्ध, विचित्र तथा मलिन । शुद्ध का तात्पर्य श्वेत वस्त्र धारण करना है । विचित्र का अर्थ वैसे तो रंगबिरंगा है, किन्तु आचार्य भरत ने विचित्र का अर्थ रक्त वर्ण की वेशभूषा से लिया है । मलिन जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, ऐसी वेशभूषा जिससे मन का विषाद अथवा उन्मत्तता एवं दरिद्रता इत्यादि प्रकट हो सके ।

देवमन्दिर में जाने तथा मांगलिक विधि के अनुष्ठान के समय, तिथिनक्षत्र के योग पूछने अथवा विवाह के अवसर पर तथा किसी धार्मिक विधि के समय पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों का ही वेश शुद्ध रहता है । यही वेश व्यापारार्थ प्रवासी या विनीत पात्र का भी होता है । देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व नाग राक्षस, नृप तथा उच्चपदस्थ अधिकारी या उत्तम प्रकृति का चित्र वेश रखा जाता है । कंचुकी, अमात्य, श्रेष्ठी, पुरोहित, सिद्ध, विद्याधर, शास्त्रवेत्ता, विद्वान् , ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा व राजाधिकारी का वेश शुद्ध होता है । उन्मत्त, प्रमत्त, पथिक तथा आपत्ति में डूबे हुये व्यक्ति का मलिन वेश होता है । आचार्य भरत ने शुद्ध एवं चित्र वेशों में शुद्ध, रक्त एवं विचित्र वर्णों के प्रावारकों की योजना का निर्देश दिया है । प्रावारक पुरुषों के द्वारा ऊपर से लपेटा जाने वाला वस्त्र होता है । मृच्छकटिक में

आवारक के प्रयोग के प्रसंग प्राप्त होते हैं । यथा -

चारुदत्तः - अनेन प्रावारकेण छादयैनम्

वसन्तसेना - प्रावारकं गृहीत्वा समाघ्राय च स्वगतं सस्पृहम्
कथं परिजन इति मामवगच्छति । अहो जाती-
कुसुमवासितः प्रावारकः, अनुदासीनमस्य यौवनं
प्रतिभासते ।[1]

मुनि, जैन-साधु, बौद्ध-भिक्षु, त्रिदण्डी, श्रोत्रिय शैव-ब्राह्मण, पाशुपत सम्प्रदाय का अनुगामी इत्यादि पुरुषों का आहार्य उनके धार्मिक विश्वासों एवं नियमों पर आधारित होना चाहिये । पाशुपत सम्प्रदाय का वेष विचित्र होता है । परिव्राजक, महन्त तथा तपस्वियों को काषाय वस्त्र धारण करना चाहिये। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में तपस्वियों द्वारा काषाय वस्त्र धारण करने का प्रसंग आता है-

राजा - शकुन्तलां दृष्ट्वा।

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ।।[2]

शकुन्तला ने वधूयोग्य रक्त वर्ण के वस्त्र धारण किये हैं । अतः काषायवस्त्र-धारी तपस्वियों के मध्य वह उसी तरह सुशोभित हो रही है जैसे पीले पड़ गये पत्तों के मध्य में किसलय अपनी शोभा विकीर्ण करता है । स्वप्नवासवदत्तम् में तपस्वी का

---

1. मृच्छकटिकम् अंक 1, पृ0 82.

2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 5/13.

छद्मवेश धारण करने वाले यौगन्धरायण ने काषायवस्त्र ही धारण किये हैं -

'यौगंधरायण ने -

कार्यं नैवार्थैर्नापि भोगैर्नाहं, काषायं वृत्तिहेतोः प्रपन्नः ।'[2]

तपस्वियों के द्वारा चीर, वल्कल और चर्म भी धारण किया जा सकता है ।

स्वप्नवासवदत्तम् में ही तपस्वियों के द्वारा वल्कलवस्त्रधारण का प्रसंग भी प्राप्त होता है -

'यौगन्धरायणः -

धीरस्याश्रमसंश्रितस्य वसतस्तुष्टस्य वन्यैः फलै-
र्मानार्हस्य जनस्य वल्कलवतस्त्रासः समुत्पाद्यते ।'[3]

उत्तररामचरित में लव एवं कुश का पालनपोषण वाल्मीकि करते हैं । अतः तपस्वियों के मध्य निवास करने के कारण उनका वेश तापसोचित ही है । लव के द्वारा मृगचर्म धारण का प्रसंग प्राप्त है -

'जनकः - भरतस्तोक पवित्रा-जनसुरो धत्ते त्वचं रौरवीम् ।'[4]

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 5/13.
2. स्वप्नवासवदत्तम् 1/9.
3. स्वप्नवासवदत्तम् 1/3.
4. उत्तररामचरितम् 4/20.

अन्तःपुर की रक्षा में नियुक्त कर्मचारियों यथा कंचुकी इत्यादि का वेष कवच युक्त अथवा काषाय वस्त्र से युक्त होना चाहिये । इन्हीं के वेशविधान के अनुसार अन्तःपुर की रक्षिकाओं का वेशविधान होगा ।

पराक्रमी पात्रों का युद्धोचित वेष होना चाहिये । यथा-शस्त्र, कवच, धनुष और तरकस धारण किये रहना चाहिये । वेणीसंहार में अंगी रस वीर ही है । अतः अधिकांश पात्र पराक्रमशाली ही हैं । यथा - भीम, अश्वत्थामा एवं कर्ण इत्यादि । इनका आहार्य इनके तत्वानुरूप ही होगा । यथा -

'कर्णः - ।सक्रोधम् उत्थाय खड्गमाकृष्य।
अरे दुरात्मन् × × × × ।
अश्वत्थात्मा - अरे मूढ़, जात्या काममवध्योऽहम् ।
इयं जातिः परित्यक्ता । ।इति यज्ञोपवीतं छिनत्ति। ।
× × × × × × ×
।उभावपि खड्गमाकृष्यान्योन्यं प्रहर्तुमुद्यतौ ।।'[1]

कुलीन पात्रों का वेष उनकी स्थिति के अनुसार रखना चाहिये । मृच्छकटिक में चारुदत्त कुलीन पात्र है, तथापि दान देने के कारण वह निर्धन हो जाता है । अतः तदनुरूप उसका आहार्य भी है -

'कर्णपूरकः - तत आर्येण एकेन शून्यानि आभरणस्थानानि परामृश्य, उर्ध्वं प्रेक्ष्य, दीर्घं निःश्वस्य, अयं प्रावारकः ममोपरि उत्क्षिप्तः ।'[2]

---

1. वेणीसंहार, अंक 3, पृ० 2217.

2. मृच्छकटिकम् ,अंक 2, पृ० 142.

राजाओं का वेश विचित्र होना चाहिये, किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में यथा - नक्षत्रशान्ति तथा विघ्न शान्ति इत्यादि के अवसर पर इनका वेश शुद्ध रहना चाहिये । उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के व्यक्तियों के वेश उनके देश, जाति तथा अवस्था आदि के अनुसार होने चाहिये । मृच्छकटिक में जुये में सब कुछ हार जाने से दरिद्र दर्दुरक का आहार्य जीर्ण वस्त्र के द्वारा किये जाने का प्रसंग प्राप्त होता है -

'माथुर: - ।दर्दुरस्य कक्षात् लुण्ठीकृतं पटमाकृष्य।

भर्तार: पश्यत पश्यत, जर्जरपटप्रावृतोऽयं पुरुषोदशसुवर्ण कल्पयति भणति ।'

पुरुषोचित वेश विधान के अन्तर्गत प्रत्येक सत्वानुरूप वेशभूषा का पृथक्-पृथक् होना अत्यन्त आवश्यक है । शुभ एवं अशुभ परिस्थितियों में भी वेशभूषा पृथक् होती है । इस प्रकार भरत द्वारा प्रस्तुत पुरुषोचित वेशभूषा के विधान के अन्तर्गत सभी तथ्यों को दृष्टि में रखा गया है ।

<u>पुरुषोचित केशविधान</u>

आचार्य भरत ने मनुष्य एवं मनुष्येतर दोनों ही तरह के पात्रों के केशविधान का विवेचन किया है । राक्षस, दानव तथा दैत्यों के भूरे बाल तथा हरी मूंछों वाले मुकुटधारी चेहरे रखने चाहिये । वस्तुत: इनकी आकृति को भयंकर बनाने के लिये ही ऐसा विधान किया गया है । जिससे इनको देखते ही हृदय में भय उत्पन्न हो सके । पिशाच, उन्मत्त, भूत, साधु तथा अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह न करने वाले व्यक्ति को लम्बे एवं बिखरे बालों वाला होना चाहिये । पिशाच एवं भूत अमानवीय योनि है । अत: जनमानस में इनके प्रति भय उत्पन्न करनेके लिये ही बिखरे बाल रखने का विधान किया गया है, किन्तु साधु चूंकि असंसारी व्यक्ति हैं अत: उसके केश भी ऐसे ही होंगे । प्रतिज्ञा पूरी न कर पाने वाला व्यक्ति प्रतिज्ञा पूरी करने के पश्चात् ही केशकर्तन करवा सकता है । अत: वह भी लम्बे एवं बिखरे बालों वाला ही होगा।

बौद्ध साधु-जैन-मुनि, श्रोत्रिय-ब्राह्मण परिव्राजक यज्ञ में दीक्षित पात्र का मस्तक मुंडा हुआ होगा । इसी प्रकार अन्य साधुओं के केश उनके आचार के अनुसार मुण्डित, कुंचित या केशधारी होना चाहिये । वारवधू, शृंगारी, राजाधिकारी इत्यादि पात्रों के केश घुंघराले होने चाहिये । चेटों का मस्तक तीन चोटी वाला या मुंडा होना चाहिये । यह पात्र मृच्छकटिकम् में प्राप्त होता है । विदूषक का मस्तक मुंडा हुआ अथवा काकपक्षयुक्त होना चाहिये । शेष पात्रों का अर्थानुसारी तथा देश, जाति के अनुसार केशविधान करने का निर्देश आचार्य भरत ने दिया है ।

आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत केश-सज्जा का विधान अधिकांशतः तत्कालीन परम्परा पर आधारित है । इसके अतिरिक्त मनोभावों का भी ध्यान रखते हुये केशसज्जा का विधान किया गया है ।

श्मश्रु-विधान

पुरुषोचित आहार्य में श्मश्रु का भी अत्यधिक महत्व है । अतः आचार्य भरत ने इसका भी संक्षिप्त रूप में विवेचन किया है । मनुष्यों की वय, सामाजिक स्थिति एवं मनःस्थिति के अनुरूप चार प्रकार की श्मश्रु बतायी गयी है - शुक्ल, श्याम, विचित्र तथा रोमश । संन्यास चूंकि जीवन के चतुर्थ चरण में लिया जाता था अतः वृद्ध होने के कारण संन्यासी की शुक्ल श्मश्रु होगी । मंत्री पुरोहितादि के श्मश्रु भी श्वेत ही रखी जायें । सिद्ध, विद्याधर, राजा, राजकुमार, युवराज इत्यादि की श्मश्रु विचित्र होनी चाहिये । श्याम से तात्पर्य बढ़ी हुई श्मश्रु से है। दुःखी एवं तपस्वी इत्यादि की श्याम श्मश्रु होनी चाहिये । ऋषि, वल्कलवेशधारी लोगों की रोमश श्मश्रु होनी चाहिये ।

पुरुषोचित मस्तकाभरण

प्राचीन भारत में मस्तकाभरण के रूप में मुकुटों का प्रचलन था । अतः

आचार्य भरत ने मस्तकाभरणों का विधान भी सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है । देवताओं एवं राजाओं के द्वारा तीन प्रकार के मुकुट धारण किये जा सकते हैं - पार्श्वागत मस्तकी तथा किरीटी । पार्श्वागत का अर्थ है वर्तुलाकार मुकुट । मनुष्येतर देव, गन्धर्व, यक्ष, नाग तथा राक्षसों के मुकुट विभिन्न स्वरूपों में पार्श्वमौलि आकार वाले होंगे । श्रेष्ठ देवताओं के मुकुट किरीटी मध्यम श्रेणी के देवों के मस्तकी तथा सामान्य देवों के पार्श्वमौलि होने चाहिये । विद्याधरों, सिद्धों एवं चारण-गन्धर्वों का मस्तकाभरण ग्रथित केशों से किया जाय । अधिकांशतः राजाओं का मुकुट मस्तकी होता है । अमात्य, कंचुकी, श्रेष्ठी तथा पुरोहित पगड़ी धारण करें । सेनापति तथा युवराज को मस्तक पर अर्धमुकुट धारण करना चाहिये । बालकों के मुकुट त्रिशिखण्डधारी तथा मुनियों को मस्तकाभरण जटाओं से निर्मित होना चाहिये ।

अङ्गरचना - स्वरूप-विवेचन

वर्णों की निर्माण-विधि

आहार्याभिनय में अंगरचना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्म है । अंगरचना के द्वारा मनुष्य अपने नैसर्गिक वर्ण को आच्छादित करके जिस भूमिका को अभिनीत करता है, तदनुकूल वर्ण को धारण करता है । अंगरचना में रंगों का ही योगदान होता है । अतः आचार्य भरत ने रंगों के परस्पर संयोग से बनने वाले विविध रंगों का अत्यन्त उपयोगी विवरण प्रस्तुत किया है । यह विवेचन आज के सन्दर्भ में उचित रूप में मूल्यांकित नहीं किया जा सकता, किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में, जबकि विज्ञान उन्नत दशा में नहीं था, यह रंगों को निर्मित करने का विधान निश्चित रूप से रंगकर्म-निर्देशक के लिये अमूल्य रहा होगा ।

आचार्य भरत ने चार स्वाभाविक रंगों का उल्लेख किया है - श्वेत, श्याम, पीत एवं रक्त । श्वेत एवं पीत वर्ण के मिश्रण से पाण्डु वर्ण, श्वेत तथा नील वर्ण के मिश्रण से कपोत वर्ण, श्वेत तथा रक्त वर्ण के मिश्रण पद्मवर्ण, नीले तथा पीत वर्ण

के मिश्रण से काषाय वर्ण, रक्त एवं पीत वर्ण के मिश्रण से गौरवर्ण बनाया जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य वर्ण उपवर्ण कहलाते हैं। जो इन स्वाभाविक रंगों में एक, दो, तीन, चार या अनेक बार मिलाकर बनाये जाते हैं। गहरा रंग अन्य रंगों के अनुपात में कम रखा जाना चाहिये जैसे कि श्याम रंग सबसे गहरा होता है अतः इसको हल्के रंगों के अनुपात में कम रखना चाहिये। इसी प्रकार हल्का रंग अन्य गहरे रंगों के अनुपात में अधिक रखना चाहिये।

<u>मनुष्येतर पात्रों की अंगरचना : स्वरूप-विवेचन</u>

आचार्य भरत ने मनुष्येतर पात्रों को अंगरचनाविधान की सुविधा के लिये दो भागों में विभाजित किया है - जीव एवं अजीव। जीव के अन्तर्गत-देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, तथा सर्प सम्मिलित हैं। अजीव के अन्तर्गत पर्वत, महल, ढाल, ध्वज तथा विविध शस्त्रादि अजीव पदार्थ माने गये हैं। एक अन्य श्लोक, जो कुछ संस्करणों में प्रक्षिप्त माना गया है, के अनुसार स्त्रीवेशधारिणी नदी, पर्वत, समुद्र, वाहन तथा अनेक शस्त्र भी प्राणियों में समाविष्ट किये जा सकते हैं।

दिव्यपात्रों में देवता, यक्ष तथा अप्सराओं को गौरवर्ण में रखना चाहिये तथा रुद्र, सूर्य, ब्रह्मा और स्कन्द इत्यादि पात्रों का वर्ण स्वर्णिम होना चाहिये। सोम, बृहस्पति, शुक्र, वरुण, नक्षत्र, सागर, हिमालय, गंगा तथा बलराम का वर्ण श्वेत होना चाहिये। मंगलग्रह को लाल, बुध और अग्नि को पीत, नारायण, नर को श्यामवर्ण तथा वासुकि को काले रंग का होना चाहिये। दैत्य, दानव, राक्षस यक्ष, पिशाच, पर्वत के अधिदेवता, जल तथा आकाशादि पात्र नीले वर्ण के होने चाहिये। आचार्य भरत ने कुछ पात्रों के लिये विकल्प भी प्रस्तुत किया है कि यक्ष, गन्धर्व, भूत, पन्नग, विद्याधर, पितर तथा वानर विविध वर्णों के हो सकते हैं।

मानव अङ्ग-रचना : स्वरूप विवेचन

आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत मानव का अंगरचना-विधान अत्यन्त विस्तृत है। मानव का वर्ण वंशानुक्रम एवं भौगोलिक पर्यावरण के अनुरूप ही होता है। आचार्य भरत ने इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर ही विवेचन किया है। भरत के द्वारा प्रस्तुत अंग-रचना-विवेचन से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है। वर्ण शब्द वृ, वरणे धातु से निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है वरण करना या चुनना। इससे यह आभास मिलता है कि वर्ण से तात्पर्य किसी विशेष व्यवसाय को चुनने या अपनाने से है। सामान्य तौर पर वर्ण-व्यवस्था द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का वर्गीकरण किया जाता है और प्रायः यह समझा जाता है कि इस व्यवस्था द्वारा प्राचीन भारत में समाज को चार वर्णों में विभाजित किया हुआ था।[1] रंग के अर्थ में वर्णों का प्रयोग ऋग्वैदिक काल में आर्य और दास का वैपरीत्य दर्शित करने के लिये किया गया था। रंगों से सम्बन्धित वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यों की त्वचा के विभिन्न रंग वर्णों के परिचायक थे। ब्रह्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति की। जिनका रंग क्रमशः श्वेत, लाल, पीत और काला था। इस प्रकार विभिन्न रंगों में विभाजित चतुर्वर्णों की उत्पत्ति गुणों से सम्बन्धित हो गई तथा शास्त्रकारों ने इनके रंगों को मूलभूत गुणों से संयुक्त कर दिया। यथा - श्वेत रंग सत्व का, रक्त वर्ण रजस् का तथा श्याम वर्ण तमो गुण का प्रतीक बन गया है। ये गुण भी वर्णव्यवस्था से संयुक्त हो गये। यथा सत्व का सम्बन्ध ब्राह्मण एवं क्षत्रिय से, तमोगुण का वैश्य से तथा रजोगुण का शूद्र के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया। भरत के द्वारा प्रस्तुत वर्णों के लिये अंगरचना विधान इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है -

---

1. प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ० 243.

'ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव गौराः कार्यास्तथैव हि ।
वैश्याः शूद्रास्तथा चैव श्यामाः कार्यास्तु वर्णतः ।।'[1]

मनुष्य के वर्ण पर वंशानुक्रम के साथ पर्यावरण का भी पूरा प्रभाव पड़ता है। शारीरिक विशेषतायें केवल आनुवंशिकता का ही परिणाम नहीं, अपितु ये भौगोलिक परिस्थितियों के द्वारा भी प्रभावित होती है । जैसे अफ्रीका चूँकि गर्म देश है, अतः वहाँ के लोगों का रंग काला है । आचार्य भरत का अंग-रचना-विधान भी यथार्थ के धरातल पर विराजमान है । मानव का अंग-रचना विधान देश एवं जाति के अनुरूप ही किया गया है, जो कि आचार्य भरत के विस्तृत ज्ञान का परिचायक है । सातों द्वीपों में रहने वाले मनुष्यों का वर्ण उनकी भूमिका एवं प्रकृति के अनुकूल तपे हुये सोने के समान गौर वर्ण का होना चाहिये ।[2] इस कथन का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि सुख एवं दुःख की अवस्थाओं में मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुरूप ही परिवर्तित होता है । अतः सुख में आनन्द एवं दुःख में कष्ट की अनुभूति वर्ण में वैभिन्न उत्पन्न करती है । इसलिये इन अवस्थाओं में वर्णरचना परिवर्तित भी हो सकती है । उदाहरणार्थ - उत्तररामचरित में राम के द्वारा परित्याग की हुई वियोगिनी सीता के हृदय में व्याप्त असीम कष्ट उनके शरीर की कान्ति को भी क्षीण कर देता है -

'मुरला - इयं हि सा -

किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनं
हृदयकमलशोषी दारुणो दीर्घशोकः ।
ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरं
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम् ।।'

---

1. नाट्यशास्त्र 23/101.
2. नाट्यशास्त्र 23/97.

जम्बू द्वीप के निवासियों के विभिन्न वर्ण होने चाहिये । कुरु देश के निवासियों का वर्ण स्वर्णिम नहीं होना चाहिये ।[1]

भद्राश्व देश के निवासी श्वेत वर्ण के होते हैं, केतुमाल देश के निवासी नीले रंग [पाठान्तर-श्वेत वर्ण] और शेष देशों के मनुष्यों को गौर वर्ण का रखा जाता है । भूतों तथा वामन मनुष्यों के अनेक रंग होते हैं इनमें भूतों के चेहरे विकृत अथवा वराह, बकरा, भैंसा, हरिण के चेहरों जैसे होते हैं ।

भारतीय जनों के रंगों का भी विस्तार से वर्णन प्राप्य है । राजाओं का वर्ण पद्मवर्ण, श्याम या गौर होना चाहिये । सुखी मनुष्य का चेहरा आनन्द से प्रदीप्त रहता है । अतएव उसका वर्ण गौर रखा जाना चाहिये । कुकर्मी, ग्रहग्रस्त, व्याधिग्रस्त, तपस्या में लीन परिश्रम करने वाले तथा निम्न जाति के लोगों का वर्ण असित होना चाहिये । ऋषियों का वर्ण केशरिया तथा तपस्वी जनों का असित वर्ण रखा जाय ।

आचार्य भरत ने नाट्य-निर्देशक को निर्देश भी दिये हैं कि किसी कारणवश अथवा किसी की इच्छा से उनके देश, जाति तथा स्वभाव के अनुकूल उनके रंग रखना चाहिये । पात्रों के देश, कर्म, जाति तथा पृथ्वी प्रदेश आदि का ज्ञान रखते उनके शरीर की अंग-रचना का विधान होना चाहिये ।

किरात एक पहाड़ी जनजाति जो हिमालय संभाग में रहती है, बर्बर सम्भवतः म्लेच्छ जाति के समकक्ष एक जाति, आन्ध्र देश के निवासी, द्रविड़ [आधुनिक तमिल निवासी जन, काशी, कोशल, पुलिन्द [विन्ध्य के पहाड़ी क्षेत्र में रहने वाली जाति तथा दाक्षिणात्य मनुष्यों का श्याम-मध्य रंग काला रखा जाना चाहिये । शक-

---

1. नाट्यशास्त्र, 23/98.

मध्य एशिया की एक पहाड़ी यायावर जाति जिसने भारतीय सीमा अपना राज्य ई०पू० 200 में स्थापित किया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ इनके संघर्ष का ऐतिहासिक विवरण मिलता है। यवन अर्थात् यूनान के निवासी, पह्लव अर्थात् पार्थियन जाति जो पश्चिमी पंजाब में ई०पू० 140 के लगभग मिलकर बसी थी, बाह्लीक अर्थात् बल्ख के निवासी तथा उत्तर दिशा के अन्य निवासियों का रंग गौरवर्ण का होना चाहिये। पांचाल, शौरसेन, माहिष, मगध, अंग, बंग, तथा कलिंग देश के निवासियों का वर्ण श्याम होना चाहिये। भरत द्वारा प्रस्तुत अंग-रचना-विधान नाट्य की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी तो है ही, साथ ही तत्कालीन भारतीय परिवेश में आकर यहाँ की संस्कृति में अपने को विलय कर देने वाली आक्रान्ता जातियाँ यथा-शक-यवन इत्यादि के विषय में उनके गहन ज्ञान का परिचय भी मिलता है। सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्थिति के साथ ही राजनीतिक स्थिति का भी पूरा आभास मिलता है।

अङ्गरचना का नाट्यधर्मिता की दृष्टि से महत्त्व

अभिनेता का रंग कर्म के प्रति पूर्ण अभिनिवेश अथवा समर्पण ही रंगकर्म को सफल बनाने में अत्यधिक सहायक है। यह अभिनिवेश अन्तःकरण की स्वीकृति एवं बाह्य दोनों के ही माध्यम से सिद्ध होता है। बाह्यस्वरूप का निर्माण आहार्य विधि के द्वारा ही सम्पन्न होता है। जिस प्रकार आत्मा एक शरीर को त्याग कर दूसरे को स्वीकार करती है और उसी के साथ शरीर के सब धर्मों को स्वीकार करती है। उसी प्रकार अभिनेता भी अनुकार्य का अनुकरण करता हुआ तत्तुल्य ही बन जाता है -

यथा जन्तुः स्वभावं स्वं परित्यज्यान्यदैहिकम् ।
तत्स्वभावं हि भजते देहान्तरसमाश्रितः ॥
वेषेण वर्णकैश्चैवच्छादितः पुरुषस्तथा ।
परभावं प्रकुरुते यस्य वेषः समाश्रितः ॥[1]

---

1. नाट्यशास्त्र 23/86-87

इसीलिये शरीर को रंगकर उसके स्वाभाविक रूप को ढँकना नाट्यधर्म की परम्परा के अनुसार नाटकीय पात्रों पर लागू होता है। भरत द्वारा प्रस्तुत अंग-रचना विधान के अन्तर्गत दिव्य पात्रों तथा राक्षस, यक्ष अथवा विभिन्न ग्रहों एवं देवों का अंगरचना का विधान पूर्णतया कल्पनाश्रित है। ये पात्र लोक में दिखाई नहीं पड़ते हैं। अतः इनका अनुकरण नहीं किया जा सकता है। अपितु समाज में प्रचलित पूर्वाग्रहों एवं मान्यताओं के कारण इनका उल्लेख प्राप्त होता है। साहित्य समाज का ही दर्पण होता है। इन पात्रों की रंगमंच पर प्रस्तुति को सफल बनाना रंगकर्म-निर्देशक के अत्यन्त आवश्यक है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य भरत ने इनकी आहार्य विधि का विवेचन प्रस्तुत किया है। यह समस्त विवेचन तत्कालीन समाज में प्रचलित मान्यताओं पर ही आधारित है। तत्कालीन समाज में इन पात्रों के प्रति ये ही अर्थ रूढ़ हैं। यही कारण है कि आहार्य से ही इन पात्रों की रंगमंच पर प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। कुछ अर्थ तो आज भी समाज में उसी तरह रूढ़ि परम्परा में चले आ रहे हैं। यथा-हिमालय तथा गंगा को श्वेत मानना तथा मंगल ग्रह को लाल रंग का मानना इत्यादि आज भी समाज में प्रचलित है। वस्तुतः ये वर्ण एवं दिव्यपात्रों के साथ इनका सम्बन्ध परम्परा के द्वारा रूढ़ हो चुका है तथा भारतीय जनमानस इनसे चिरकाल से भली-भाँति परिचित है। अतः नाट्यधर्मी के रूप में इनका प्रयोग सहज रूप में किया जा सकता है। नाट्यधर्मी में कलात्मकता के साथ लोकात्मकता जुड़ी ही है जो किसी भी प्रस्तुति को ग्राह्य बनाने में समर्थ हो सकती है, क्योंकि उसमें दोनों ही तत्वों का सन्निवेश है। अभिनयगत कठिनाइयों को दूर करने के लिये नाट्यधर्मी परम्परा अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है।

आहार्याभिनय : नाट्यधर्मी प्रयोग

नाट्य में वर्णित प्रत्येक वस्तु की यथावत् रंगमंच पर प्रस्तुति संभव नहीं है। अतः उनकी प्रतिकृति को ही रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। ये प्रयोग आहार्याभिनय के अन्तर्गत आते हैं। आचार्य भरत ने नाट्य की जटिलताओं को

दृष्टि में रखकर ही कहा है -

'लोकधर्मी भवेत्त्वन्या नाट्यधर्मी तथापरा ।
स्वभावो लोकधर्मी तु विभावो नाट्यमेव हि ।।'[1]

अतः नाट्यधर्मी परम्परा को आहार्याभिनय के अन्तर्गत प्रतिकृति इत्यादि प्रस्तुत करने में पूर्णतया स्वीकार कर लिया है । ये प्रयोग इस प्रकार हैं -

<u>संजीव नेपथ्यविधान</u>

रंगमंच पर प्रस्तुत किये जाने वाले प्राणी संजीव कहलाते हैं । ये तीन वर्गों में विभाजित किये गये हैं - चतुष्पाद, द्विपाद तथा अपाद । अश्व गाय इत्यादि पशु चतुष्पाद प्राणी हैं ।[2] मनुष्य एवं पक्षी-वर्ग द्विपाद में आते हैं । रेंगकर चलने वाले सर्पादि अपाद प्राणी हैं । इनमें से पशु, पक्षी एवं सर्पादि का प्रयोग इनकी प्रतिकृति के द्वारा ही किया जायेगा । ~~प्रतिशीर्षकों की निर्माण~~

<u>प्रतिशीर्षकों की निर्माण विधि</u>

आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिशीर्षक की व्युत्पत्ति करते हुये बताया है -

'प्रकृतिस्थं शिरः प्रतिशीर्षकम् ।'

प्रतिशीर्षक से तात्पर्य मुखौटों से है । प्रतिशीर्षकों का निर्माण पटी के द्वारा होती है । पटी की रचना में वस्त्र, बिल्व, राल, मिट्टी या धान के भूसे का प्रयोग किया जाता है । सूखने के पश्चात् पटी को आवश्यकतानुसार काट लिया जाता है । देखने एवं श्वास लेने के लिये छिद्र किये जाते हैं । इसके द्वारा

---

1. नाट्यशास्त्र 23/191.
2. नाट्यशास्त्र 23/152-53.

गले तक का भाग ढँका रखना चाहिये । इसको आवश्यकतानुसार अनेक प्रकार के कलापूर्ण रत्नजटित मुकुटों से सुसज्जित भी किया जा सकता है ।[1]

प्रतिशीर्षकों के अतिरिक्त पैर, सिर या त्वचा की प्रतिकृतियों का निर्माण घास, चटाई, या भाण्ड के द्वारा कर लेना चाहिये ।

शस्त्र एवं अस्त्रों का नाट्यधर्मी प्रयोग

शस्त्रों को भी नाट्यधर्मी विधि से निर्मित करना चाहिये । यथा - घास बाँस के अवयवों, लाख तथा भाण्ड के द्वारा इनका निर्माण करना चाहिये ।[2] शस्त्रों के प्रयोग में अभिनेता का कौशल एवं चातुर्य आवश्यक है । अभिनेता के द्वारा शस्त्र-संचालन से उसका शौर्य एवं पराक्रम प्रकट होना चाहिये, किन्तु वास्तविक छेदन या ताड़न नहीं करना चाहिये, अन्यथा अभिनयगत अनेक जटिलतायें उत्पन्न हो जायेंगी। इनका व्यवहार बिना प्रतिद्वन्द्वी के शरीर को छुये दूर से करना चाहिये । शस्त्र एवं अस्त्र के नाट्यधर्मी प्रयोग के पीछे भरत की यही दृष्टि रही होगी कि शस्त्र एवं अस्त्रों के नाट्यधर्मी प्रयोग से न तो अभिनेता में श्रम उत्पन्न होगा और न ही भेदन इत्यादि का भय रहेगा ।

अलंकारों का नाट्यधर्मी प्रयोग

आचार्य भरत ने स्वर्ण निर्मित तथा रत्नादि जटित अलंकारों का आहार्याभिनय में प्रयोग करने का निषेध किया है । अलंकारों को भाण्ड, वस्त्र, मोम, ताम्रपत्र, नील के रंग एवं अभ्रक के द्वारा निर्मित किया जाना चाहिये एवं चमक

---

1. नाट्यशास्त्र 23/174-177.

2. नाट्यशास्त्र 23-159.

लाने के लिये अभ्रक का लेपन करना चाहिये । इसी प्रकार मुकुटों का भी निर्माण किया जाना चाहिये । यह विधान नाट्यनिर्देशक एवं अभिनेता दोनों की ही सुविधा को ध्यान में रखकर किया गया है । बहुमूल्य अलंकारों को नाट्य की प्रस्तुति के लिये उपलब्ध करा पाना निर्देशक के लिये अत्यन्त दुष्कर कार्य है । दूसरी ओर अभिनेता धातुनिर्मित एवं रत्नादिजटित अलंकारों को धारण करने के कारण श्रान्त हो जायेगा एवं अभिनय-कार्य में व्यवधान उत्पन्न होगा । कुछ दृश्यों यथा-युद्ध एवं बाहुयुद्ध इत्यादि को अभिनीत करते समय अभिनेता को अधिक परिश्रम करना पड़ता है । ऐसे दृश्यों में भारी अलंकारों के प्रयोग से अभिनेता को अत्यधिक स्वेद उत्पन्न हो सकता है अथवा श्रमाधिक्य से मूर्च्छा भी उत्पन्न हो सकती है ।[1] अतः अलंकारों की प्रतिकृति का निर्माण करके उन्हीं का प्रयोग करना चाहिये ।

<u>अन्य नाट्योपयोगी वस्तुओं का नाट्यधर्मी प्रयोग</u>

नाट्योपयोगी वस्तुयें यथा महल मकान तथा यानादि का नाट्यप्रदर्शन में उपयोग किया जाता है, किन्तु रंगमंच पर यथार्थ रूप में इनकी प्रस्तुति असम्भव है । अतः इन वस्तुओं की प्रतिकृति प्रस्तुत की जानी चाहिये । इनका निर्माण पत्थर लोहे इत्यादि वजनी वस्तुओं के द्वारा नहीं किया जाना चाहिये, अपितु लाख,लकड़ी चर्म, वस्त्र, भोजपत्र तथा बांस इत्यादि के द्वारा किया जाना चाहिये । हल्के होने पर इनका प्रयोग सहज होगा । इन वस्तुओं के निर्माण में यदि वस्त्र उपलब्ध न हो तो ताड़पत्र या चटाइयों (किलिंज) का उपयोग किया जाना चाहिये ।[2] मिट्टी के द्वारा भी कुछ वस्तुओं का सारूप्य सर्जन किया जा सकता है । विभिन्न प्रदेशों में उत्पन्न होने वाले फल, पुष्प तथा बर्तनों को लाख से निर्मित करना चाहिये ।[3]

---

1. नाट्यशास्त्र 23/206-208.
2. नाट्यशास्त्र 23/193.
3. नाट्यशास्त्र 23/199.

निष्कर्ष

इस प्रकार आचार्यभरत ने आहार्याभिनय के अन्तर्गत नाट्यधर्मी परम्परा को व्यापक रूप में प्रयोग करने का निर्देश दिया है । भरत के अतिरिक्त अन्य किसी भी नाट्याचार्य की दृष्टि इतनी सूक्ष्म नहीं रही है । अतः अन्य आचार्यों का अभिनय के इस प्रभेद के विषय में कोई भी मौलिक योगदान नहीं है । यह समस्त विवेचन निर्देशक एवं अभिनेता दोनों को ही दृष्टि में रखकर किया गया है । नाट्य निर्देशक का ही पात्रों की वेशभूषा एवं रंगमंचीय उपकरणों इत्यादि का ध्यान रखना पड़ता है । नाट्य-निर्देशक के निर्देशन में ही यह सारा कार्य सम्पन्न होता है । अतः आहार्याभिनय निर्देशक के कार्यक्षेत्र का विषय है । अभिनेता के बाह्य स्वरूप को अनुकार्य के अनुरूप बनाने में आहार्याभिनय के द्वारा ही सफलता मिलती है । अतः आहार्याभिनय का अभिनेता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । यही कारण है कि आचार्य ने आहार्य को अभिनय-प्रभेदों में सम्मिलित किया है । आहार्याभिनय का अभिनेता की विशेषताओं यथा अभ्यासादि से उत्पन्न निपुणता या प्रतिभा इत्यादि से कोई सम्बन्ध नहीं है । इसीलिये इसे अन्य अभिनय-प्रभेदों की अपेक्षा कम महत्त्व प्राप्त है । आहार्याभिनय के द्वारा ही नाट्य में वर्णित पर्यावरण का रंगमंच पर सर्जन करने में सफलता प्राप्त होती है जिसके कारण दर्शक को नाट्य में वर्णित परिवेश सम्मुख जीवन्त जान पड़ता है । यह समस्त प्रक्रिया रसानुभूति कराने में पर्याप्त सहायता प्रदान करती है जो कि नाट्यकला का परमलक्ष्य है । इसी कारण आहार्याभिनय की उपयोगिता सिद्ध होती है ।

--------::0::--------

सप्तम - अध्याय

नाट्याभिनय - विविध प्रश्न -

विमर्श - विश्लेषण

सामान्याभिनय: स्वरूप-विवेचन

अभिनय के प्रभेदों की परिचर्चा करते समय चतुर्विध अभिनयों की अतिरिक्त अन्य प्रभेदों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। किन्तु सूक्ष्म पर्यवेक्षण के उपरान्त अन्य सभी प्रभेद इन्हीं चतुर्विध अभिनय प्रभेदों में समाहित हो जाते है।

सामान्याभिनय जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें किसी विशिष्ट अभिनय-प्रभेद के सिद्धान्त का विवेचन नहीं किया गया है। सामान्याभिनय को एक पृथक् अभिनय-प्रभेद के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं प्रतीत होता है। इस अभिनय के स्वरूप के विषय में विद्वानों में मत भेद है। आचार्य भरत के अतिरिक्त अभिनव गुप्त तथा भोज ने सामान्याभिनय को अभिनय प्रभेदों के मध्य पृथक रूप से एक अभिनय-प्रभेद के रूप में स्वीकार किया है।[1] नाट्य दर्पणकार ने रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसका अन्य अभिनय प्रभेदों के मध्य ही अन्तर्भाव कर दिया है।[2] आचार्य धनञ्जय एव विश्वनाथ अन्तर्भाव कर प्रभृति विद्वानों ने इसका उल्लेख भी नहीं किया है। किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व सामान्याभिनय के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। सामान्याभिनय के स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् ही इन मतों की समीक्षा की जा सकती है। भरत के मतानुसार-

> "सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः।
> तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यं सत्त्वे प्रतिष्ठितम् ॥"[3]

---

1. (क) अभिनवभारती भाग-3, पृ0 146
   (ख) शृङ्गारप्रकाश, भाग-2 पृ0 283

2. नाट्यदर्पण, तृतीय-विवेक, वृत्तिभाग

3. नाट्यशास्त्र, 24/1

अभिनव गुप्त द्वारा प्रस्तुत यह व्याख्या भी इसी तथ्य को पुष्टता प्रदान करती है । अतः यह स्पष्ट है कि सामान्याभिनय अन्य तीन अभिनयों का समन्वय है ।

सामान्याभिनय के अन्तर्गत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सात्त्विक, आङ्गिक, वाचिक अभिनयों का सन्तुलन किस प्रकार रखा जाय कि नाट्य प्रस्तुति श्रेष्ठ बन सके । सात्त्विक अभिनय अत्यन्त दुःसाध्य प्रभेद है, इसके द्वारा भावों की प्रस्तुति अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से की जा सकती है । अतः स्वाभाविक रूप से अन्य अभिनय प्रभेदों की अपेक्षा सात्त्विक अभिनय को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है । आचार्य भरत ने अपना मत अभिव्यक्त करते हुये कहा है-

"सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते ।
समसत्त्वो भवेन्मध्यः सत्त्वहीनोऽधमः स्मृतः ।।[2]

अर्थात् जिस अभिनय में सत्त्व का अतिशय समावेश हो उसे ज्येष्ठ या उत्तम, समान मात्रा में हो तो मध्यम तथा सत्त्व रहित हो, तो उसे अधम प्रकार का अभिनय समझना चाहिये । सात्त्विक अभिनय की प्रचुरता नाट्य प्रस्तुति को अतिशय महत्त्वपूर्ण बना देती है ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने सामान्याभिनय में आहार्य के समावेश को भी स्वीकार किया है, जबकि आचार्य भरत ने सामान्याभिनय में आहार्य का उल्लेख नहीं किया है । वस्तुतः आहार्य की अभिनय-प्रभेदों के मध्य परिगणना अभिनय के क्षेत्र को विस्तृत करने के लिये की गई है । अभिनवगुप्त कहते है कि लोकाचार की दृष्टि से रति में उज्ज्वल वेश और शोक में मलिन वेश धारण करना औचित्य होता है ।

---

2. नाट्यशास्त्र, 24/2

नाट्य-प्रयोग लोकानुसारी औचित्य और अनुरूपता का ज्वलन्त प्रतीक है । अतः सामान्याभिनय में आहार्य का भी समीकरण होता है ।[1] यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तब आहार्य का सम्बन्ध अभिनेता को नाट्य के अनुरूप सुसज्जित करना है । इसी कारण आहार्य को अभिनय प्रभेद के रूप में आचार्य भरत ने स्वीकार किया है, किन्तु निर्देशक ही रंगकर्म के अनुरूप अभिनेता एवं रंगमञ्च पर प्रस्तुत की जाने वाली अन्य वस्तुओं को सुसज्जित करने का निर्देश देता है । इसीलिये आहार्य मूल रूप से निर्देशक के कर्म से जुड़ा हुआ है । यही कारण है कि सामान्याभिनय में अभिनेता का मार्गदर्शन करते समय आचार्य भरत ने आहार्य का उल्लेख नहीं किया है । अभिनेता के कर्म सत्त्व, वाणी एवं आङ्गिक चेष्टाओं से सम्बन्धित है इन्हीं का सामान्याभिनय में उल्लेख किया गया है । आचार्य भरत स्वयं अभिनय भी करते थे, अतः अभिनेता की समस्याओं से वे भली-भाँति अवगत थे । इसीलिये इन्होंने सामान्याभिनय का पृथक् रूप से विवेचन किया है ।

सामान्याभिनय के अन्तर्गत स्त्री एवं पुरूषों के सत्त्वज अलङ्कारों का विवेचन है तथा अभिनेता के प्रति कुछ निर्देश भी हैं । सत्त्वज अलङ्कारों का विवेचन इस प्रकार है ।

<u>सत्त्वज अलङ्कार : स्वरूप विवेचन-</u>

सामान्याभिनय के अन्तर्गत सत्त्वज अलङ्कारों का उल्लेख एवं उनका देहात्मक रूप में प्रकाशन का विवेचन अत्यन्त उपयोगी है । ये अलङ्कार हृदयस्थ रसों एवं भावों को प्रकाशित करते हैं, अतः इनका सत्त्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है । सत्त्व आन्तरिक प्रकृति है, जो कि प्रकाशन के लिये शरीर का आश्रय लेती है ।

---

1. अभिनवभारती, भाग - 3, पृ० 149 (गायकवाड़ संस्करण)

आचार्य भरत ने स्त्रियों में सुकुमार-भाव को पुष्ट करने वाले तथा पुरुषों में पौरुष-भाव की वृद्धि करने वाले रसों तथा भाव के आश्रित नाट्यालङ्कारों का विवेचन किया है। इन देहात्मक सात्त्विक सिद्धान्तों के दर्शन प्रायः उत्तम स्त्री एवं उत्तम पुरुषों में होते हैं। श्रृंगार रस में स्त्रियों की तथा वीर रस में पुरुषों की उत्तमता होती है। ये सत्त्वज अलङ्कार उत्तम स्त्री-पुरुषों के अतिरिक्त अन्यत्र भी दृष्टिगत हो सकते हैं, क्योंकि सात्त्विकभाव राजस एवं तामस शरीरों में भी होता है। इनका विवेचन इस प्रकार है-

<u>स्त्रियों के नाट्यालङ्कारों का अभिनय : सिद्धान्त एवं प्रयोग-</u>

यौवनावस्था में युवतियों के सुकुमारभावों को पुष्ट करने वाले रस तथा भावों के आश्रित स्त्रियों के अलङ्कारों को प्रकाशन के लिये शारीरिक अङ्गों का ही आश्रय लेना पड़ता है। अतः इन अलङ्कारों को आङ्गिक विकार कह सकते हैं। स्त्रियों के नाट्यालङ्कारों को तीन भागों में विभाजित किया गया है- अङ्गज, स्वाभाविक तथा अयत्नज। शारीरिक परिवर्तनजन्य अङ्गज अलङ्कार तीन प्रकार का होता है, स्वाभाविक परिवर्तनजन्य सहज अलङ्कार दस प्रकार का होता है तथा अनायास रहने वाले अयत्नज अलङ्कारों के सात प्रकार होते हैं। इनका विवेचन इस प्रकार है-

<u>अङ्गज-अलङ्कार-</u>

स्त्रियों की देहगत स्वाभाविकता सत्त्व है। सत्त्व से भाव का, भाव से हाव तथा हाव से हेला का उद्भव होता है। वाणी, अङ्ग मुखराग तथा सत्त्व के अभिनय के द्वारा भावों का भावन करवाने के कारण प्रथम अलङ्कार "भाव" कहलाता है।[1] काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र ने भाव की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है-

---

1. नाट्यशास्त्र, 24/8

"तत्राङ्गात्यल्पो विकारोऽन्तर्गत वासनात्मतया वर्तमानं रत्याख्यं भावं भावयन् सूचयन् भावः ।[1] अर्थात् भावात्मक अङ्गविकार को इसलिये भाव कहते हैं क्योंकि वह नायिका के हृदय में वासनारूप से विराजमान रतिभाव को भावित अथवा सूचित करता है । यथा रत्नावली में सागरिका राजा उदयन को सर्वप्रथम देखती है, उस समय उसके द्वारा भाव का अभिनय किया जायेगा-

> "सागरिका - (श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य राजानं सस्पृहं पश्यन्ती) कथमयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता ।[2]

भाव जब उत्तरोत्तर विकसित होने के पश्चात् प्रकट होता है, तब वह हाव की श्रेणी में आता है अर्थात् भाव की वह अवस्था जो चित्तवृत्तियों से उद्भूत होकर नेत्र, भौंहें, ग्रीवा के रेचकादि आङ्गिक चेष्टाओं के द्वारा रस की अभिव्यक्ति करता है हाव अलङ्कार है ।[3] हाव की परिभाषा हेमचन्द्र ने इस प्रकार की है- "बहुविकारात्मा भ्रूतारकाचिबुकग्रीवादेर्धर्मः स्वचित्तवृत्तिं परत्र सूचयन्ती कुमारी हावयतीति हावः ।"[4]

अर्थात् हाव युवती नायिका का वह अङ्गविकार है, जो उसके हृदय में स्थित प्रेम को सर्वजनिक रूप से प्रकाशित कर देता है । यथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अङ्क में शकुन्तला की चेष्टाओं से यह ज्ञात हो जाता है कि उसके हृदय में दुष्यन्त के प्रति रति-भाव उत्पन्न हो गया है । उसकी अवस्था का वर्णन करते हुये दुष्यन्त कहता है-"राजा-स्निग्धः प्रस्थाने पुनः शालीनतयाऽपि काममाविष्कृतो भावस्तत्र भवत्या । तथा हि-

---

14. काव्यानुशासन, द्वितीय-अध्याय, पृ0 310
2. रत्नावली, अङ्क -1 पृ0-67
3. नाट्यशास्त्र, 24/11
4. काव्यानुशासन, अध्याय-2, पृ0310

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे,
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती,
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥[1]

हाव जब श्रृंगार रस के आश्रित होकर ललित शारीरिक चेष्टाओं का अभिव्यञ्जक होता है तब वह "हेला" की श्रेणी में आता है ।[2] काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र ने हेला की व्याख्या इस प्रकार की है-"यदा तु रतिवासनाप्रबोधात्तां पुरुषं रतिमभिमन्यते केवलं समुचित विभावोपग्रह -

विरहान्निर्विषयतया स्फुटी भावं न प्रपद्यते तदा तज्जनित बहुतरश्रृङ्गारविकारात्मा हेला हावस्य सम्बन्धिनी क्रिया पृथक्त्वादवेगवाहित्वमित्यर्थः । वेगेन हि गच्छन् हेलतीत्युच्यते लोके इति। ----------- तदेतद्-वृन्तमाल्योपवनमिव भविष्यत् पुरुषार्थदृष्टमीठबन्धत्वेन योषितामामनन्ति ।[3]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनों का परस्पर एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा वे उत्तरोत्तर विकसित होते चले जाते हैं ।

<u>स्वभावज अलङ्कार-</u>

स्वभावज अलङ्कारों के माध्यम से स्त्रियों के आन्तरिक मनोवेगों को प्रदर्शित किया जाता है । ये अलङ्कार यौवनावस्था से सम्बन्धित होने के कारण स्त्रियों की रागात्मक वृत्तियों को ही प्रकट करते हैं । स्त्रियों में होने वाले दश स्वभावज

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् , 2/12

2. नाट्यशास्त्र 24/11

3. काव्यानुशासन, द्वितीय-अध्याय पृ0 310, 11

अलङ्कार दस प्रकार हैं- लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम,किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित तथा विहृत ।[1] इनके द्वारा रति, हर्ष, मद, लज्जा इत्यादि मनोभावों का प्रकटीकरण होता है, जिनसे स्त्रियों की आङ्गिक चेष्टाओं में वृद्धि होती है । जैसेलीला के अन्तर्गत प्रिय की क्रियाओं का प्रीति एवं मधुरता पूर्वक अनुकरण किया जाता है । प्रिय दर्शन के पश्चात् शारीरिक चेष्टाओं में एक विलक्षण परिवर्तन होना विलास कहलाता है । आचार्य हेमचन्द्र ने विच्छित्ति में सौभाग्य गर्व का उल्लेख करके उसके स्वरूप को अधिक स्पष्ट कर दिया है- "गर्वादल्पाकल्पन्यासः शोभाकृद्विच्छित्तिः ।" प्रेम हर्ष या मद के कारण संभ्रमवश विविध शब्दों, चेष्टाओं तथा वस्त्रों का अपने उचित स्थान पर न रहना विभ्रम कहलाता है । आचार्य विश्वनाथ ने किलकिञ्चित को परिभाषित करते हुये कहा है कि प्रियतम के सङ्गम, आगमन आदि के से संभूत आनन्द के कारण स्मित, अकारण रोदन हँसना, त्रास, क्रोध आदि का विचित्र मिश्रण किलकिञ्चित कहलाता है ।[2] प्रिय के विषय में वार्तालाप के समय तन्मयता से लीला, हेला इत्यादि चेष्टाओं के साथ श्रवण मोट्टायित कहलाता है । कुट्टमित को शारदातनय ने इस प्रकार परिभाषित किया है-

> सौख्यापघातैः सानन्दाधरकेशग्रहादिभिः
> दुःखापचारात् कुप्येद् दृष्टिः कुट्टमितं तु तत् ।।[3]

गर्व एवं अभिमान के कारण इष्ट वस्तु के प्रति अनादर दिखाना बिब्बोक है । दशरूपककार के अनुसार ललित में सुकुमार अङ्गों को स्निग्धता पूर्वक चलाया जाता है अवसर आने पर भी लज्जा के कारण न बोलना विहृत है ।

---

1. नाट्यशास्त्र 24/12-13
2. साहित्यदर्पण, 3/101
3. भावप्रकाशन, प्रथम-अधिकार, पृ0 15

अयत्नज अलङ्कार-

स्त्रियों के अयत्नज अलङ्कार सात हैं- शोभा, कान्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य तथा औदार्य ।[1] अयत्नज अलङ्कार नारी के सौन्दर्य को प्रदर्शित करते हैं । शोभा, कान्ति तथा माधुर्य, नारी की स्वरूप अर्थात् बाह्य स्वरूप के सौन्दर्य को प्रकट करते हैं । जैसे-सब अवस्थाओं में रमणीयता ही माधुर्य है । अभिज्ञानशाकुन्तल की नायिका शकुन्तला का सौन्दर्य ऐसा ही है-

राजा- × × × कामममनुरूपमस्या वपुषो
वल्कलं न पुनरलङ्कारश्रियं न पुष्यति ।[1]

धैर्य, प्रागल्भ्य तथा औदार्य नारी की अन्तः प्रकृति को प्रकट करते हैं । मृच्छकटिक की वसन्तसेना प्रगल्भता तथा चारुदत्त की पत्नी धूता औदार्य गुणों से विभूषित है । वसन्तसेना निर्भयता के साथ संभाषण तथा अन्य कार्यों का सम्पादन करती है, जबकि धूता वसन्तसेना प्रति ईर्ष्या रहित नम्रतापूर्ण व्यवहार करती है ।

इन अलङ्कारों का प्रयोग जब स्त्री में होता है, तब ये भाव सुकुमार कहलाते हैं । पुरुष पात्रों में प्रयोग होने पर यह भाव दीप्त कहलाते हैं ।- दीप्त अवस्था में विलास और ललित का प्रयोग नहीं होता है, क्योंकि ये भाव केवल स्त्रियों के हैं । स्त्रियों के ये सभी सत्त्वज अलङ्कार, उनके आन्तरिक मनोवेगों के प्रकटीकरण के द्वारा उनके रूप-सौन्दर्य को वृद्धि प्रदान करते हैं । उत्तरवर्ती आचार्यों के मत इन अलङ्कारों की गणना में वृद्धि हुई है,[3] किन्तु उनकी दृष्टि नाट्यशास्त्रीय न होने के कारण वह अभिनय का विषय नहीं हैं ।

---

1. नाट्यशास्त्र, 24/7

2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् अङ्क-1, पृ0 40

3. साहित्यदर्पण 3/89-92

<u>पुरुषों के सात्त्विक गुण-</u>

नारी के सात्त्विक अलङ्कारों एवं पुरुषों के सात्त्विक गुणों की नामावली प्राय: मिलती जुलती है, किन्तु तत्त्वत: दोनों में अन्तर है । यह अन्तर नारी एवं पुरुषों की आन्तरिक प्रवृत्तियों के कारण ही है । अभिज्ञानशाकुन्तलम् में जहाँ, शकुन्तला भ्रमर मात्र से डर जाती है, वहीं दुष्यन्त मृगया से परिश्रान्त नहीं होता ।[1] अत: जहाँ स्त्रियों के अलङ्कार स्त्रियों के सुकुमार भावों की वृद्धि करते हैं, वहीं पुरुषों के तत्त्वगुण उन्हें पुरुषोचित सौन्दर्य से विभूषित करते हैं । पुरुषों के सात्त्विक गुण आठ हैं- शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित औदार्य तथा तेज ।[2] इनमें से शोभा एवं विलास द्वारा पुरुष के पौरुष में वृद्धि होती है यथा-धीरतापूर्दर्शक वृषभ के समान चाल रहना, स्थिर दृष्टि स्मित के साथ वार्तालाप विलास गुण को प्रदर्शित करता है, तथा इनके अतिरिक्त अन्य गुण पुरुष की अन्त: प्रकृति से सम्बन्धित है । यथा-माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य औदार्य इत्यादि ।

आचार्य भरत ने इन स्त्री-पुरुषों के अलङ्कारों को सात्त्विक नाम दिया है । आचार्य भरत ने सात्त्विक भावों के अभिनय को पहले ही आठ भागों में विभाजित कर विवेचित किया है, किन्तु पुन: इस अध्याय में सात्त्विक-अलङ्कारों का उल्लेख क्यों किया है? क्या इन अलङ्कारों का सम्बन्ध सात्त्विक भावों से है? इस प्रकार कई प्रश्न उठते हैं । वस्तुत: सात्त्विक अलङ्कार स्त्री या पुरुषों के सत्त्व प्रकृति की विशेषताओं के अनुसार विवेचित किये गये हैं । संसार में सभी तरह की प्रकृति के लोग रहते हैं तथा प्रकृति के अनुरूप ही उनकी चेष्टायें होती हैं । इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर यह सारा विवेचन किया गया है । मुग्धा नायिका के क्रिया-कलाप प्रगल्भा के विपरीत अधिक सुकुमार होंगे इसी प्रकार तेजगुणसम्पन्न पुरुष के क्रिया-कलाप ललित गुण वाले पुरुष के विपरीत उद्धत होंगे । यौवनावस्था में

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- अङ्क-1 पृ0 20,49

2. नाट्यशास्त्र 24/31

में वर्तमान नायिकाओं के क्रियाकलाप एक से ही हों ऐसा नहीं है यही कारण है कि सत्त्वगुणों के भेद के कारण स्त्री एवं पुरुषों दोनों के अभिनय का पृथक् - पृथक विवेचन किया गया है । ये अलङ्कार आङ्गिक चेष्टायें ही है अतः इनका समाहार आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिये । आचार्य अभिनवगुप्त ने इन्हें शरीरालङ्कार ही माना है-

'एते केवलमलङ्काराः देहमात्रनिष्ठाः, न तु चित्तवृत्तिरूपाः ।
..... ते हि यौवने उद्रिक्ता दृश्यन्ते, बाल्ये त्वनुद्भिन्ना वार्धके तिरोभूताः ।
तथाप्यलङ्कारत्वात् सामान्याभिनयरूपत्वात् बाह्यशरीरानिष्ठतापर्यवसानात् शृङ्गारैक मात्र विषयत्वाच्च अनेकरसविषयत्वाद् व्यभिचारिवर्गात् पृथक्त्वेनैषामभिधानम् ।[1]

इस प्रकार सामान्याभिनय में विवेचित स्त्री एवं पुरुषों के अलङ्कार उनके बाह्य व्यक्तित्व को श्रेष्ठ बनाते हुये अलङ्कृत करते हैं, तथा आङ्गिक चेष्टाओं से सम्बद्ध है अतः आङ्गिकाभिनय के ही विषय हैं । इन्हें अलग अभिनय-प्रभेद के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता है ।

शारीराभिनय-

आचार्य भरत ने शारीराभिनय के छः प्रकार बताये हैं- (1) वाक्य (2) सूच्य, (3) अङ्कुर, (4) शाखा, (5) नाट्यायित, (6) निवृत्त्यङ्कुर ।[2] सूचा तथा अङ्कुर अपने स्वरूप में वाचिक अभिनय ही हैं । जैसे वाक्याभिनय के अन्तर्गत संस्कृत या प्राकृत भाषा में गद्य या पद्यमय संवादों को, अनेक रसों के अर्थों को अभिव्यक्त करते हुये प्रयोग किया जाता है । सूचाभिनय में सात्त्विक एवं आङ्गिक चेष्टाओं द्वारा सम्पादित अर्थों को पुनः शब्दों में कहा जाता है । अङ्कुराभिनय

---

1. अभिनवभारती-नाट्यशास्त्र 22 अध्याय ।

2. नाट्यशास्त्र 24/48-51

में भी आङ्गिक अभिनय को प्रस्तुत करते हुये हृदयस्थ भावों को शब्दों के द्वारा अभिनीत किया जायेगा । सूचा एवं अङ्कुर दोनों का मुख्यतः नृत्य में प्रयोग होता है । शाखाभिनय, नाट्यायित एवं निवृत्त्यङ्कुर आङ्गिक चेष्टाओं से सम्बद्ध है । अतः इनका उल्लेख आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत किया जा सकता है । जैसे-मस्तक, मुख, जंघा, पिंडलियाँ, हाथ और पैरों के द्वारा किया जाने वाले अभिनय के अनुसार क्रमानुसार प्रदर्शित किया जाय तब शाखाभिनय होता है । नाट्यायित तथा निवृत्त्यङ्कुर का प्रयोग नृत्य में किया जाता है ।

<u>वाचिक अभिनय के प्रभेद-</u>

आचार्य भरत ने भावों एवं रसों को अभिव्यक्त करने वाले वाचिक अभिनय के बारह प्रभेदों का उल्लेख किया है- आलाप प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, व्यपदेश ।[1] नामावली के अनुरूप ही इनका स्वरूप भी है । जैसे-आलाप में संभाषण, प्रलाप में असम्बद्ध एवं निरर्थक वाक्यावली का प्रयोग, विलाप में शोकपूर्ण कथन अनुलाप में एक ही बात को बार-बार दुहराना इत्यादि । आचार्य भरत ने वाचिक अभिनय के सात वाक्य-विभेद भी बताये हैं- प्रत्यक्ष, परोक्ष, भूत, भविष्य, वर्तमान, आत्मस्थ, परस्थ ।[2] ये सभी वाक्याभिनय परस्थ, आत्मस्थ तथा काल की विशेषता से किये गये हैं, इनके इसी प्रकार अनेक प्रभेद किये जा सकते हैं ।

सामान्याभिनय में आहार्य के अतिरिक्त सभी अभिनयों का विवेचन किया गया है । अतः यहाँ पर आचार्य भरत ने वाचिक अभिनय के विषय का ही विवेचन किया है ।

---

1. नाट्यशास्त्र 24/49-51
2. नाट्यशास्त्र, 24/[illegible]

इन्द्रियाभिनय-

विषयों का ज्ञान मन को होता है तथा उस ज्ञान का माध्यम इन्द्रियाँ होती है। इन्द्रियों के द्वारा व्यक्त अनुभावों का मन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इन्द्रियों के रूप, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द विषय होते हैं।[1] शब्द का अभिनय तिरछी दृष्टि तर्जनी को कान के ऊपर रखकर सिर को कन्धे की ओर झुकाते हुये किया जाता है। नेत्रों को कुछ आकुञ्चित रखते हुये भौहों को ऊपर चढ़ाकर, कन्धों को कपोल से छुवाते हुये स्पर्श का अभिनय किया जाना चाहिये। दो पताक हस्तों को ऊपर रखते हुये, मस्तक को थोड़ा हिलाते हुये किसी को देखने का भाव प्रदर्शित करने पर रूप का अभिनय किया जाता है। नेत्रों को कुछ आकुञ्चित करके नासिका को फुलाते हुये श्वास लेने पर गन्ध का अभिनय होगा। मन के तीन भाव होते हैं- इष्ट, अनिष्ट तथा मध्यस्थ। इष्ट के प्रति आकर्षण अनिष्ट के प्रति नेत्रों को हटाते हुये नेत्र एवं नाक को सिकोड़ते हुये तथा मध्यस्थ के प्रति न अतिप्रसन्नता एवं न अधिक तिरस्कार प्रकट करते हुये अभिनय किया जायेगा।

अभिनयेतर विषय-

सामान्याभिनय के अन्तर्गत कुछ अभिनयेतर विषयों का भी विवेचन आचार्य भरत ने किया है। विविध सत्त्वों वाली स्त्रियों का स्वरूप-विवेचन ऐसा ही अभिनयेतर विषय है। जैसे देवशीला नारी, असुर शीला नारी, गन्धर्व शीला नारी, राक्षस शीला नारी, पक्षिशीला, यक्ष शीला, व्याल शीला, मनुष्य शीला, वानर शीला, हस्ति शीला, मृग शीला, मीन, उष्ट्रसत्त्वा, मकरशीला इत्यादि नारियों का स्वरूप-विवेचन। यह विषय अभिनय का नहीं है। इन सत्त्वों के अनुरूप आकार-प्रकार वाले नारी-पात्रों का चयन निर्देशक का कार्य है। अतः यहाँ पर इनका उल्लेख अप्रासङ्गिक होगा। इसी प्रकार नायिकाभेद भी काव्य-शास्त्रीय विवेचन है, अभिनय का विषय नहीं है। अतः उसका भी यहाँ पर अभिनय के परिप्रेक्ष्य में विवेचन

---

1. नाट्यशास्त्र, 24/80

उचित नहीं होगा ।

अभिनेता एवं अभिनय का स्तर-

अभिनय कर्म को अच्छी तरह से सम्पादित करने के लिये अभिनेता को अभिनय के सिद्धान्तों का ज्ञान परमावश्यक है । आचार्य भरत ने अभिनय के स्तर को दो भागों में विभाजित किया है - बाह्य तथा आभ्यन्तर । आभ्यन्तर अभिनय शास्त्रीय विधि से रहित अभिनय को न्यूनता प्रदान करता है, अतः ऐसा अभिनय बाह्य कहा जायेगा । अतः अभिनेता को यदि शास्त्रीय स्तर पर अभिनय का ज्ञान होगा तभी उसका अभिनय श्रेष्ठ होगा । शास्त्रीय अभिनय सम्पादित करते समय अभिनेता की स्थिति ऐसी होनी चाहिये-

> 'अनुद्धतमसम्भ्रान्तमनाविद्धाङ्ग चेष्टितम् ।
> लयतालकलापातनियात्मकम् ॥
>
> सुविभक्तपदालापमनिष्ठुरमकाहलम् ।
> यदीदृशं भवेन्नाट्यं ज्ञेयमाभ्यन्तरन्तु तत् ॥'[1]

शास्त्रानुमोदित अभिनय की परम्परा का पालन अभिनय के स्तर को उच्च पीठिका प्रदान करती है, जबकि स्वच्छन्द प्रवृत्ति अभिनय के स्तर को न्यून बनाती है । अभिनय के लिये अभिनय के नियमों एवं सिद्धान्तों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है । अभिनय की श्रेष्ठता के लिये ही यह नियम आचार्य भरत द्वारा निर्धारित किया गया है । यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य भरत ने अभिनेता की व्यक्तिगत प्रतिभा एवं कौशल की उपेक्षा की है तथा केवल शास्त्रीय नियमों में उसको बाँधकर उसके द्वारा अपने अनुभवों से प्राप्त ज्ञान को दृष्टि में नहीं रखा है । यह आक्षेप उचित नहीं होगा, क्योंकि स्थान-स्थान पर आचार्य भरत ने कहा है कि नाट्यकला

---

1. नाट्यशास्त्र, 24/74-75

में चतुर जन, जिन विषयों का उल्लेख नहीं किया गया है, उन लोकप्रचलित विषयों का अपने ज्ञान एवं अनुभवों के माध्यम से सम्पादन करें । यह निर्देश अभिनेता को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्रदान करता है । शास्त्रीय नियमों का ज्ञान अभिनेता की कला एवं प्रतिभा को निखारने के आवश्यक है ।

वस्तुतः सामान्याभिनय का स्वरूप भरत ने कहीं कहीं अस्पष्ट कर दिया है । प्रारंभ में कहते हैं कि सामान्याभिनय में सात्त्विक, वाचिक एवं आङ्गिक अभिनयों का समन्वय रहता है तथापि सत्त्वातिरिक्तता अभिप्रेत रहती है, किन्तु एक अन्य श्लोक में वे कहते हैं कि-

'शिरोवदनपादोरुजङ्घोदरकटीकृतः ।
समः कर्मविभागो यः सामान्याभिनयस्तु सः ।।'[1]

इस कथन से प्रतीत होता है कि सामान्याभिनय में मात्र आङ्गिक चेष्टाओं का समन्वय है । इस अध्याय में विवेचित समस्त विषय आङ्गिक, वाचिक कार्य व्यापारों से ही सम्बद्ध है । इस स्वरूपगत अस्पष्टता के रहते हुये भी इसका विशेष रूप से उल्लेख इसके नामानुरूप अर्थ को स्वीकार करने के लिये ही बाध्य करता है, तथापि इसे पृथक अभिनय-प्रभेद के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता ।

प्रतीकात्मकअभिनय की परम्परा अर्थात् चित्राभिनय-

यथार्थ जगत्‌का रंगमञ्च पर सम्पूर्ण रूप में अवतरण दुःसाध्य ही नहीं, असम्भव भी है । नाट्यधर्मी परम्परा का अनुसरण करते हुये कभी-कभी आहार्याभिनय के माध्यम से इसका सम्पादन किया जाता है, किन्तु अनेक अवसरों पर कथावस्तु के अनुरूप रंगमञ्च की सज्जा एवं आहार्य वस्तुयें उपलब्ध नहीं हो पाती हैं ऐसी परिस्थिति में प्रतीकों के माध्यम से नाट्यार्थ को अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है । अतः

---

1. नाट्यशास्त्र, 24/72

यह आवश्यक है कि ये प्रतीक लोक-परम्परा के अनुकूल हों जिससे जनतामान्य इनके अर्थों को समझने में समर्थ हो सके । प्रतीकाभिनय के द्वारा अभिनेता आङ्गिक चेष्टाओं के माध्यम से वर्णनीय वस्तु का चित्र सा प्रस्तुत कर देता है, इसीलिये इसे चित्राभिनय भी कहा जाता है । वस्तु को मूर्त्त एवं जीवन्त रूप में प्रस्तुत करने के कारण इस अभिनय का अत्यधिक महत्त्व है । वस्तुतः चित्राभिनय आङ्गिक चेष्टाओं के माध्यम से ही सम्पन्न किया जाता है । अतः इसका समाहार आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत सहजता से किया जा सकता था, किन्तु आचार्य भरत ने इसे पृथक् अभिनय-प्रभेद के रूप में स्वीकार किया है । आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार चित्राभिनय की स्वतंत्रता एवं उपयोगिता इसके विशिष्ट स्वरूप के कारण ही है । भोज ने यद्यपि ओ-ड्राभिनय में इसे मान्यता दी है, तथापि वे आङ्गिक अभिनय में ही इसे समाहित करते है ।[1] रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र ने एक अलग अभिनय प्रभेद के रूप में इसका खण्डन किया है ।[2] अन्य आचार्यों यथा दशरूपककार, साहित्यदर्पणकार इत्यादि ने इसका उल्लेख भी नहीं किया है इन आचार्यों के मतवैभिन्य का एकमात्र कारण प्रतीकों का आङ्गिक अभिनय के माध्यम से प्रकटीकरण है । आचार्य भरत ने स्वयं कहते हैं-

> 'अङ्गाद्यभिनयस्येह यो विशेषः क्वचित् क्वचित् ।
> अनुक्त उच्यते यस्मात् स चित्राभिनयः स्मृतः ।।[3]

अर्थात् कभी-कभी अङ्गादि से होने वाले विशेष अभिनय भी अपेक्षित होते हैं । अतएव अंगादि से होने वाले जिस अभिनय का अभी तक सामान्य परिपाटी से लक्षण नहीं दिया जा सका वह समस्त दिये जाने वाला विवरण चित्राभिनय है ।

---

1. सरस्वतीकण्ठाभरण 2/150
2. नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक (वृत्ति भाग)
3. नाट्यशास्त्र, 26/1

इस प्रकार चित्राभिनय अपने स्वरूप में आङ्गिक अभिनय ही है । आङ्गिक अभिनय में भी विभिन्न अर्थों को अङ्गों के अभिनय द्वारा सम्पादित किया जाता है । यहाँ भी विभिन्न अर्थों को प्रतीकों के माध्यम से आङ्गिक चेष्टाओं से ही सम्पादित किया जाता है । अतः चित्राभिनय को पृथक अभिनय प्रभेद के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है । चित्राभिनय के माध्यम से प्रकृति एवं मनोभावों इत्यादि को व्यक्त किया जाता है । इनके प्रतीकों का विवेचन नाट्यशास्त्र में इस प्रकार किया गया है-

प्राकृतिक पदार्थों का प्रतीकात्मक अभिनय : सिद्धान्त एवं प्रयोग-

कथावस्तु के अनुसार रंगमञ्च पर पर्यावरण का सर्जन करने के लिये आचार्य भरत ने प्राकृतिक पदार्थों का प्रतीकात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है- जैसे - रात्रि प्रदोष, सन्ध्या, कथावस्तु की अपेक्षा के अनुसार ऐसा पर्यावरण कभी-कभी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है । इन्हीं दृश्यों के माध्यम से ही कथा गतिशील होती है । अतः इनका परिहार भी नहीं किया जा सकता । रात्रि, प्रदोष, सन्ध्या, ऋतुयें, बादल, वनान्त प्रदेश, विस्तीर्ण जलाशय, दिशायें, ग्रह, नक्षत्र को हाथों को पताक मुद्रा में सीधे स्वस्तिक करके उद्वाहित रूप में मस्तक पर रखकर विभिन्न दृष्टियों से देखने के द्वारा प्रकट किया जाता है ।[1] मृच्छकटिक के प्रथम अङ्क में ही रात्रि का वर्णन आता है । यह प्रसङ्ग कथावस्तु को गति प्रदान करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । शकार रात्रि के अन्धकार में ही वसन्त सेना का पीछा करता है- "शकारः-भावे । भावे । कथं-यति खलन्धकारे माषराशिप्रविष्टेव मसीगुटिका दृश्यमानैव प्रनष्टा वसन्तसेना ।[2]

---

1. नाट्यशास्त्र, 26/4

2. मृच्छकटिक अङ्क 1, पृ0 54-56

चन्द्रिका, सुख, वायु, रस तथा सुगन्ध की अभिव्यक्ति के लिये उपर्युक्त हस्तमुद्रा का ऊपर की ओर हिलाते हुये प्रयोग करना चाहिये । वस्त्रावगुण्ठन के द्वारा सूर्य तथा अग्नि के प्रभाव को तथा स्पर्श एवं रोमाञ्च के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है । आकेकरा दृष्टि से ऊपर देखने पर मध्याह्न का सूर्य बतलाया जाता है । विस्मय भाव के द्वारा सूर्य के उदय तथा अस्त को बतलाया जाता है ।[1] अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सूर्योदय का प्रसङ्ग दर्शनीय है-

> ' शिष्यः - यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना,
> आविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।'[2]

वस्त्रावगुण्ठन के द्वारा सूर्य तथा अग्नि के प्रभाव को, स्पर्श तथा रोमाञ्च के द्वारा सुखद वस्तुओं का तथा अरुचि के द्वारा तीक्ष्ण वस्तुओं का प्रदर्शन किया जाता है । विद्युत उल्का आदि इत्यादि के दर्शन में स्रस्त अङ्ग तथा अक्षि निमेष का विधान किया गया है, जो मानव-मन के अनुकूल है । इसी प्रकार अनिष्टकारी तथा अस्पृश्य पदार्थों को बतलाने के उद्वेष्टित और परिवृत्त करणों को हाथों से प्रदर्शित करते हुये मस्तक को झुकाकर दृष्टि को टेढ़े रखते हुये अभिनय किया जाता है । गर्म वायु, ताप, धूल, वर्षा, तथा भ्रमर इत्यादि को मुख-प्रच्छादन के द्वारा अभिनीत करना चाहिये ।[3] मृच्छकटिक में धूल फेंकने का प्रसङ्ग आता है -'दर्दुरो माथुरस्य चाक्षुना अक्षुणी पूरियत्वा संवाहकस्य अपक्रमितुं संज्ञां ददाति । x x ।'[4]

सिंह, रीछ, वानर इत्यादि वन्य पशुओं को बतलाने के लिये "पद्मकोश" हस्तों को स्वस्तिक दशा में नीचा मुँह रखते हुये अभिनय किया जाता है । रत्नावली में वानर का प्रसङ्ग प्राप्त होता है -

---

1. नाट्यशास्त्र, 26/8
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/2
3. नाट्यशास्त्र 26/17
4. मृच्छकटिक, अङ्क-2 पृ0 123

" कण्ठे कृत्तावशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम कर्षन्

× × × × ×

पृष्ठोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरायाः ।।[1]

वानर के द्वारा सारिका के पिंजड़े को खोलने का कार्य भी किया जाता है । अतः चित्राभिनय के द्वारा यह साध्य हो सकता है । पूज्य-जन का चरणस्पर्श प्रकट करने के लिये त्रिपताक हस्तों को स्वस्तिक मुद्रा में रखा जाता है । वालुकादि प्रकट करने के लिये पटकामुख हस्त को स्वस्तिक मुद्रा में रखना चाहिये । दश, शत एवं सहस्रादि संख्या को दो पताक हस्तों द्वारा प्रकट करना चाहिये । स्मरण ध्यानादि को एक-चित्त, अधो दृष्टि, कुछ झुके हुये सिर तथा बायें हाथ को सन्दंश मुद्रा में रखकर अभिनीत करना चाहिये । सन्तति को प्रदर्शित करने के लिये मस्तक को उद्वाहित तथा संलग्न हस्तों को दाहिनी ओर उठाकर घुमाते हुये रखा जाता है । अतीत तथा श्रान्त पुरुषादि के वाक्यों को मस्तक को अराल हस्त के सहारे टिकाकर अभिनीत किया जाता है । संस्कृत-साहित्य में ऋतुओं का अत्यन्त मनोहर वर्णन मिलता है, किन्तु रंगमञ्चीय व्यवस्था में इन ऋतुओं की यथावत् प्रस्तुति दुष्कर कार्य है । अतः इनके प्रतीक-विधान उपयोगी हैं । आचार्य भरत ने शरद्-ऋतु, हेमन्त ऋतु, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा तथा अन्य सामान्य ऋतुओं का वर्णन किया है । सभी इन्द्रियों की शान्ति, दिशाओं की निर्मलता तथा विभिन्न पुष्पों को आश्चर्यविष्ट दृष्टि से भूतल पर अवलोकन करने का अभिनय शरद् ऋतु को अभिव्यक्त करता है । स्वप्नवासवदत्तम् में शरद् ऋतु के प्रयोग का स्थल मिलता है- 'विदूषकः- ही । ही । शरत्कालनिर्मलान्तरिक्षे प्रसारितबलदेवबाहुदर्शनीया सारसपङ्क्तिर्यावत् गच्छन्तीं पश्यतु तावद् भवान् ।'[2] हेमन्त ऋतु में उत्तम, मध्यम एवं अधम पात्रों की शारीरिक स्थिति पृथक् पृथक् होगी । उत्तम एवं मध्यम पात्रों को गात्रसंकोच एवं सूर्य अथवा अग्नि के सेवन के आग्रह से तथा अधम

---

1. रत्नावली, 2/2
2. स्वप्नवासवदत्तम्, अङ्क-4, पृ0 111

पात्र को तर तथा ओठों को हिलाते हुये, दाँतों को कटकटाते हुये, और से सीत्कार के शब्दों या कराहते हुये प्रदर्शन करना चाहिये ।[1] पुष्पों की सुगन्ध लेने, आसव पान तथा तीखी हवा के स्पर्श को प्रदर्शित करते हुये शिशिर ऋतु को अभिनीत करना चाहिये । वसन्तऋतु को आनन्दप्रद वस्तुओं के सेवन, कार्यप्रारम्भ तथा विभिन्न पुष्पों के प्रदर्शन द्वारा अभिनीत किया जाता है । वसन्त ऋतु का वर्णन अभिज्ञानशाकुन्तलम् में आता है । यह प्रसंग अत्यन्त छोटा होने पर भी कथावस्तु में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । वस्तुतः इस प्रसंग का उपयोग दुष्यन्त के विरह की अभिव्यक्ति को सफल बनाना ही है -

'कञ्चुकी - मा तावत् अनात्मज्ञे । देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिका-भङ्गं किमारभसे ।'[2] कंचुकी का यह कथन परभृतिका एवं मधुकरिका के प्रति है जो अपनी चेष्टाओं से वसन्तऋतु के आगमन को अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं ।

भूमि के ताप, स्वेद के प्रमार्जन पंखा झलाने तथा गर्म वायु के स्पर्श द्वारा ग्रीष्म ऋतु का अभिनय करना चाहिये । कदम्ब, नीप तथा कुटज पुष्पों के खिलने, हरी घास, इन्द्रगोप कीट, मेघवात के सुखद स्पर्श के द्वारा वर्षा ऋतु को अभिनीत किया जाना चाहिये । वर्षा ऋतु का अति मनोरम वर्णन मृच्छकटिक के पंचम अङ्क में मिलता है -

'विटः - अपि च

पङ्कक्लिन्नमुखाः पिबन्ति सलिलं धाराहता दर्दुराः
कण्ठं मुञ्चति बर्हिणः समदनो नीपः प्रदीपायते ।
संन्यासः कुलदूषणैरिव जनैर्मेघैर्वृतश्चन्द्रमा
विद्युन्नीचकुलोद्गतेव युवतिर्नैकत्र सन्तिष्ठते ॥'[3]

---

1. नाट्यशास्त्र, 26/28-30
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् अंक 6, पृ0 252.
3. मृच्छकटिकम् , 5/14.

वर्षा ऋतु की रात्रि को बतलाने में गम्भीर मेघों की गर्जना, धारायुक्त वर्षा तथा बिजली का कौंध एवं पतन का प्रदर्शन करना चाहिये । मृच्छकटिक में ही वर्षा की रात्रि का वर्णन है -

'वसन्तसेना -

मां गर्जितैरिति मुहुर्विनिवारयन्ती ।
मार्गं रुणद्धि कुपितेव निशा सपत्नी ॥'[1]

मानव का मन अत्यन्त विचित्र होता है जो प्रकृति हर्षावस्था में सुखद प्रतीत होती है । वही विषादावस्था में कष्टप्रद प्रतीत होती है । अतः मनः स्थिति के अनुरूप ही अभिनय करना चाहिये ।

मनोभावों का प्रतीकात्मक अभिनय

भाव हृदय में चित्त वृत्ति के रूप में रहते हैं, किन्तु वे मात्र चित्तवृत्ति ही नहीं हैं, अपितु रसानुभव की समस्त प्रक्रिया का स्रोत भी है । अतः आचार्य भरत के विचार से विभाव मात्र रस-प्रतीति के कारण ही नहीं होते हैं, अपितु अभिनय के माध्यम से भावों को प्रतीतियोग्य बनाते हैं । अनुभव वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनय से अनुभावित होते हैं । इत्यादि स्थायी भावों को सूचित करने वाले विकार ही अनुभाव हैं । ये अनुभाव शारीरिक विकारों के माध्यम से रस को पोषित करते हैं । इसीलिये आचार्य भरत ने भावों को अभिनीत करने के लिये विभावों एवं अनुभावों के प्रदर्शन का निर्देश दिया है । विभावों से सम्बद्ध कार्यों को अनुभावों के द्वारा अभिव्यक्त करना चाहिये । सत्त्वभेद के कारण स्त्री एवं पुरुषों की चेष्टाओं में भेद होता है । स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा स्वभावतया

---

1. मृच्छकटिकम् , 5/15

कोमल होती है । अतः जहाँ पुरुषों की चेष्टायें धैर्य तथा लीलापूर्ण अङ्गहारों के द्वारा प्रदर्शित की जाती हैं, वहीं स्त्रियों की चेष्टायें कोमलता तथा सुकुमार अङ्गहारों के द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं ।[1] भरत ने हर्ष, क्रोध, विषाद, भय तथा मद के अभिनय विधान के प्रसंग में स्त्री एवं पुरुषों के अभिनयों में भेद दिखाया है ।[2] हर्ष के भाव का अभिनय पुरुषों के द्वारा आलिङ्गन, स्मित, खिले हुये नेत्रों तथा रोमांच के द्वारा एवं स्त्रियों द्वारा रोमाञ्चयुक्त अङ्गों, अश्रुपूर्ण नेत्रों एवं स्मित-युक्त प्रीतिपूर्ण वाक्यों से किया जायेगा । चढ़े हुये, रक्त नेत्रों, अधर को चबाते हुये, निःश्वासयुक्त, कम्पित अङ्गों से पुरुष के द्वारा क्रोधभाव का अभिनय किया जायेगा । वेणीसंहार में अश्वत्थामा के द्वारा प्रस्तुत स्थल पर इसी प्रकार अभिनय किया जायेगा -

> 'अश्वत्थामा - ।सक्रोधम्। अरे रे राधागर्भभारभूत, सूतापसद, ममापि नामाश्वत्थाम्नो दुःखितस्याश्रुभिः प्रतिक्रियामुद्याति न शस्त्रेण ।'[3]

स्त्रियों के द्वारा ईर्ष्योत्थ क्रोध भाव का नेत्रों में अश्रु भरकर, चिबुक, ओष्ठ, शिर को कम्पित करके भृकुटी ऊपर चढ़ाकर मौन धारण करना इत्यादि से अभिनय किया जायेगा । रत्नावली के प्रस्तुत स्थल पर वासवदत्ता के द्वारा सागरिका के प्रति ईर्ष्या से उत्पन्न क्रोध का इसी प्रकार का अभिनय किया जायेगा -

> 'वासवदत्ता - ।सकोपम्। आर्यपुत्र । उत्तिष्ठोत्तिष्ठ ।
> किमद्यापि सहजाभिजातायाः सेवया दुःखमनुभूयते ।'[4]

---

1. नाट्यशास्त्र 26/48
2. नाट्यशास्त्र 26/50
3. वेणीसंहार अङ्क 3, पृ0 207.
4. रत्नावली, अङ्क 3, पृ0 196.

पुरुष पात्रों के द्वारा विषाद का अभिनय अतिशय निःश्वास या उच्छ्वास लेने, नीचा मुंह करके चिन्तन करने या आकाश की ओर देखने इत्यादि के द्वारा किया जायेगा । मृच्छकटिक में प्रस्तुत स्थल पर चारुदत्त के द्वारा इसी प्रकार अभिनय किया जायेगा -

'चारुदत्तः - ॥समाश्वस्य॥ वयस्य ।

क: श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तुलयिष्यति ।
शङ्कनीया हि लोकेऽस्मिन् निष्प्रतापा दरिद्रता ॥'[1]

स्त्रियों का विषाद, रोने, जोर से श्वास लेने सिर पीटने, भूमिपात इत्यादि के द्वारा प्रदर्शित किया जायेगा । मुद्राराक्षस में चाण्डालों द्वारा सेठ चन्दनदास को लेकर वधस्थान पर जाते समय उसकी स्त्री द्वारा इसी प्रकार अभिनय किया जायेगा -

'कुटुम्बिनी ॥सोरस्ताडम्॥ आर्य परित्रायस्व, परित्रायस्व ।'[2]

इसी प्रकार भय की अवस्था में पुरुष की अवस्था आवेगयुक्त होने पर भी धैर्यपूर्ण होगी । इसके विपरीत स्त्रियों को भ्रम प्रदर्शित करने की दशा में आँखों की पुतलियों के घूमने, अङ्गों के कम्पित होने, रक्षक को ढूंढने, उच्च स्वर में क्रन्दन करने

---

1. मृच्छकटिकम् , 3/24

2. मुद्राराक्षस, अङ्क 7, पृ0 347.

तथा प्रिय के आलिङ्गन के द्वारा किया जाता है । यथा वेणीसंहार में -

'भानुमती - ससभयं राजानं परिष्वज्य।
परित्रायताम् परित्रातामार्यपुत्रः ।'[1]

स्त्रियों में मद का अभिनय सुकुमारता एवं ललित चेष्टाओं से युक्त होना चाहिये ।

आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत भावाभिनय का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ किया गया है । यह पर्याप्त मनोविज्ञानसंगत एवं लोकपरम्परा के अनुकूल है।

<u>प्राणिवर्ग एवं अन्य अभिनयों का प्रतीक विधान</u>

पशु एवं पक्षियों का रंगमंच पर प्रवेश कराना अत्यन्त दुष्कर कार्य है । अतः आचार्य भरत ने इनका प्रतीकाभिनय विवेचन करके एक बड़ी समस्या का हल प्रस्तुत कर दिया है । तोता या सारिकादि छोटे आकार के पक्षियों को त्रिपताक हस्त की दो अंगुलियों द्वारा प्रकट किया जाता है । सारिका का प्रयोग रत्नावली में मिलता है -

'सुसङ्गता - ------ सारिकापञ्जरमुद्घाट्यापक्रान्तो दुष्टवानरः ।
मेधाविन्यप्युड्डीनैषा गच्छति ।[2]

---

1. वेणीसंहार, अङ्क 2, पृ0 111.

2. रत्नावली, अङ्क 2, पृ0 89.

मोर, सारस तथा हंस इत्यादि स्थूल पक्षियों को अभिनीत करने के लिये उचित रेचकों तथा अङ्गहारों का प्रदर्शन करना चाहिये । उत्तररामचरित में मोर का प्रयोग-स्थल प्राप्त होता है -

'वासन्ती -

अनुदिवसमवर्धयत् प्रिया ते
यमचिरनिर्गतमुग्धलोलबर्हम् ।।
मणिमुकुट इवोच्छिखः कदम्बे
नदति स एष वधूसखः शिखण्डी।।'[1]

भूत, पिशाच, यक्ष तथा दानव इत्यादि को प्रत्यक्ष होने पर अङ्गहारों अथवा अप्रत्यक्ष होने पर भय, उद्वेग, विस्मय इत्यादि के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है । अप्रत्यक्ष व्यक्ति का अभिवादन दाहिनी भुजा को उठाकर मस्तक पर अराल हस्त मुद्रा से स्पर्श करना चाहिये । देवता गुरु तथा स्त्रियों को अभिवादन कटका-वर्धमान तथा कपोत हस्त द्वारा किया जाना चाहिये । समूह, मित्रवर्ग, विट तथा धूर्त व्यक्तियों का वर्ग परिमंडल हस्त द्वारा बताना चाहिये । सागर और उसकी विस्तीर्णता, गंभीर जलप्रवाह और विस्तृत सेना को बताने के लिये ऊपर की ओर दो पताक हस्तों के द्वारा अभिनय करना चाहिये । शौर्य, धैर्य, गर्व, दर्प, औदार्य, वृद्धि एवं उन्नति को ललाट पर अराल हस्त को रखते हुये बताना चाहिये। दोला का प्रदर्शन उसकी क्रियाओं के अनुकरणात्मक प्रदर्शन द्वारा किया जाना चाहिये । इस प्रकार आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत प्रतीकाभिनय का विश्लेषण कल्पनावैभव-सम्पन्न कलापूर्ण एवं उपयोगी है ।

---

1. उत्तररामचरितम् , 3/18.

भाव प्रदर्शन की विविध नाटकीय शैलियाँ

अभिनय की अनेक जटिल समस्यायें हैं जो कि नाट्यार्थों को अभिव्यक्ति प्रदान करने में अभिनेता के सम्मुख आ जाती हैं। इन समस्याओं के प्रति आचार्य भरत असावधान नहीं थे। अतः उन्होंने सभी समस्याओं को दूर करने का सफल प्रयास किया है। कभी-कभी अभिनेता को उसके मन के भावों को दर्शकों के सम्मुख प्रकट करना आवश्यक रहता है, किन्तु रंगमंच पर स्थित अन्य पात्रों पर कथावस्तु के आग्रह के कारण उन भावों का प्रकटीकरण नहीं होना चाहिये। ऐसे समय में अभिव्यक्ति की समस्या का निदान करने के लिये आचार्य ने कतिपय नाटकीय शैलियों का विधान किया है जैसे 'स्वगत भाषण' इसके अन्तर्गत हृदय में गुप्त विचारों का भी रंगमंच पर कथन किया जाता है। ये वचन अविश्वास, मद, राग, द्वेष, भय, पीड़ा, विस्मय, क्रोध, दुःख आदि में की दशा में किये जाते हैं। जैसे- स्वप्नवासवदत्तम् में -

'वासवदत्ता - (आत्मगतम्) हा लावाणकं नाम।
लावाणकसंकीर्तनेन पुनर्नवीकृत इव मे सन्तापः।'[1]

इस स्वगत भाषण का नाटकीय प्रयोजन में दशरूपककार ने नियतश्राव्य के दो भेद किये हैं -

जनान्तिक तथा अपवारित। वार्तालाप के सन्दर्भ में त्रिपताक हस्त मुद्रा के द्वारा अन्यों को अपवारित करके, बहुत से जनों के मध्य दो पात्र आपस में बात-चीत करते हैं, वह जनान्तिक है।[2] नाटक में गोपनीयता से सम्बन्ध वचनों को

---

1. उत्तररामचरितम्, अंक 1, पृ0 49.
2. दशरूपक, 1/65.

जनान्तिक के द्वारा प्रकट करते हुए कान में कहा जाता है ।[1]

यथा मृच्छकटिक में -

'विदूषक: ।चारुदत्तस्य कर्णे। एवमिव ।[2]

जहाँ किसी पात्र के द्वारा मुँह फेरकर दूसरे से गुप्त बात कही जाती है, वह अपवारित कहलाता है । इसमें भी त्रिपताक हस्त का प्रयोग होता है ।

जैसे मृच्छकटिक में -

'विदूषक: - ।अपवारितकेन। भो वयस्य ।
पृच्छामि तावदत्र भवतीं किमपि ।'[3]

पुनरुक्ति से बचने के लिये भी कान में कथन करना चाहिये । परोक्ष रूप से किया गया भाषण आकाशभाषित कहलाता है । जैसे वेणीसंहार में -

।नेपथ्ये।

महात्मन् भारद्वाजसूनो, न खलु सत्यवचनमनुल्लङ्घितपूर्वमुल्लङ्घयितुमर्हति ।[4]

स्वप्नावस्था में अंगों यथा हस्तचेष्टाओं इत्यादि के द्वारा अभिनय नहीं किया जा सकता । अतः निद्रावस्था में कहे गये वाक्यों द्वारा ही भावों का

---

1. नाट्यशास्त्र 26/90
2. मृच्छकटिक, अङ्क 5, पृ0 303.
3. मृच्छकटिक, अङ्क 5, पृ0 299.
4. वेणीसंहार, अङ्क 3, पृ0 229.

प्रकटीकरण किया जाता है । स्वप्नवासवदत्तम् में उदयन के स्वप्न का वर्णन है । यह प्रसंग इतना मर्मस्पर्शी है कि नाटक का नाम ही इस पर आधारित है । यह प्रसंग दर्शनीय है -

'राजा - ।स्वप्नायते। हा वासवदत्ते । -----
हा अवन्तिराजपुत्रि । ----- हा प्रिये । हा
प्रियशिष्ये । देहि मे प्रतिवचनम् ।'[1]

वृद्धावस्था के सम्भाषण गद्गद ध्वनि से युक्त तथा अपूर्ण शब्दों वाले रखना चाहिये तथा बच्चों के संवाद को कलल ध्वनियुक्त तथा अपूर्ण शब्दों वाला रखना चाहिये । अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सप्तम् अङ्क में शकुन्तला के बालक का संवाद इसी प्रकार अभिनीत होना चाहिये । राजा के कथन से यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो जाता है -

'राजा -

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्ण-रमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।[2]

सबसे अन्त में आचार्य भरत ने जीवन के अन्तिम सत्य अर्थात् मरणावस्था के अभिनय का विधान किया है । विविध कारणों से उत्पन्न मरण के अभिनय का विधान किया गया है । जैसे - विषपानजन्य, रोगजन्य इत्यादि । इनका अभिनय अव्यक्त संवाद, भारी, हीन वर्णों का उच्चारण इत्यादि के द्वारा किया जाना चाहिये ।

---

1. स्वप्नवासवदत्तम् , अंक 5, पृ0 168-69.
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् , 7/17.

अन्त में आचार्य भरत कहते हैं कि सभी अवस्थाओं में होने वाले विशेष अभिनय सत्त्व तथा भाव से युक्त होने चाहिये तथा इसके अतिरिक्त जो अन्य लौकिक विषय कार्य या व्यवहार हो उन्हें लोकप्रसिद्ध स्वरूप में ही ग्रहण कर लेना चाहिये ।

इस प्रकार सम्पूर्ण चित्राभिनय के विवेचन के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्राभिनय आङ्गिक अभिनय ही है । इसके अन्तर्गत वर्णित पताकादि हस्त मुद्राओं का विवेचन आङ्गिक अभिनय के विवेचन के सन्दर्भ में ही किया गया है, तथा समस्त प्रतीकार्थ आङ्गिक चेष्टाओं के माध्यम से ही अभिव्यक्त किये जाते हैं। अतः इनको अलग अभिनय-प्रभेद के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है ।

<u>कतिपय आधुनिक अभिनय-पद्धतियाँ एवं भरत की प्रासङ्गिकता</u>

भारत की प्राचीन अभिनय-पद्धतियों का विवेचन वैज्ञानिक एवं व्यापक है। मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष को अभिव्यक्ति प्रदान करने की क्षमता इन पद्धतियों में वर्तमान है । यथार्थ एवं कल्पना की उर्वरता के अद्भुत सङ्गम ने इन पद्धतियों को लोकग्राही बना दिया है । अभिनेता की क्षमता का पूर्ण उपयोग करने के साथ ही सहृदय दर्शकों को सदैव दृष्टिपथ में रखा गया है । इन पद्धतियों की लोकात्मकता ही इनकी उपयोगिता का प्रमाण है । परम्परा से भारत की प्राचीन अभिनय-पद्धतियों के जनक आचार्य भरत ही माने जाते हैं । इनका नाट्यशास्त्र ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें अभिनय का साङ्गोपाङ्ग विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है । अन्य ग्रन्थों में मौलिकता एवं सूक्ष्म दृष्टि की न्यूनता ही दृष्टिगोचर होती है । आचार्य भरत अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र के कारण संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित हैं । उनके द्वारा प्रतिपादित अभिनय-पद्धतियों की प्रासङ्गिकता आज भी वर्तमान है । यद्यपि कालभेद के कारण जीवन शैली अधिकांशतया

बदल चुकी है, तथापि कुछ अर्थों में भरत द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त आज भी उपादेय हैं । आधुनिक अभिनय पद्धतियाँ भी समय व्यतीत होने के साथ नूतन नहीं रही हैं । तथापि भरत की अपेक्षा नवीन ही हैं । इन नूतन अभिनय-पद्धतियों के परिप्रेक्ष्य में यदि भरत द्वारा प्रतिपादित अभिनय-पद्धतियों का आकलन किया जाय तो ज्ञात होता है कि भरत आज भी कितने प्रासङ्गिक हैं ।

योरोप की आधुनिक अभिनय-पद्धति का प्रारम्भ यूनान से माना जाता है । यूनान में अभिनय के लिये अभिनेता भावों के अनुकूल मुखौटे धारण करते थे । चरित्र की विशिष्टताओं के अनुसार ही उनके वस्त्रों का वर्ण भी होता था । इन्हीं के माध्यम से देवत्व राक्षसत्व की प्रकृति वाले पात्रों की प्रत्यभिज्ञा होती थी । मुखौटों के प्रयोग के कारण स्पष्ट है कि मुख की मुद्राओं के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है, जबकि मनुष्य का चेहरा भावों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है, अतः आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत सात्त्विक एवं मुख्य आङ्गिक अभिनय की प्रौढ़ परम्परा के समक्ष यह अत्यन्त शैशवकालीन, अपरिपक्व, अविकसित अवस्था का ही द्योतक है । अतः इस परम्परा से भरतप्रतिपादित अभिनय की विवेचना की तुलना करना भरत की गरिमा को न्यून करना ही होगा ।

पाँचवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक योरोप में रंगकर्म का इतिहास अन्धकार-युग कहलाता है ।

दसवीं शताब्दी के अन्त में धार्मिक आवश्यकता के कारण रंगकर्म का पुनः प्रचलन हुआ । 'हाम' नामक अभिनय शैली का जन्म पन्द्रहवीं शताब्दी के आस-पास हुआ, किन्तु इस शैली में कृत्रिम वाचिक प्रणाली तथा अतिरंजित आङ्गिक चेष्टाओं का प्राधान्य था ।[1] अतः इस समय की अभिनय-पद्धति भी भरत के सामान्याभिनय के सिद्धान्त के सम्मुख अत्यन्त न्यून प्रतीत होती है, जिसमें सभी

आङ्गिक, वाचिक तथा सात्त्विक अभिनयों में उचित सामंजस्य रखने का निर्देश दिया गया है तथा सात्त्विक अभिनय की प्रचुरता अभिनय को उत्कृष्ट बनाती है यह भरत की मान्यता है, जो कि नाट्य की प्रस्तुति को भाव-सम्प्रेषण की दृष्टि से सफल बनाने के कारण सर्वथा मान्य है ।

शेक्सपियर के काल में सोलहवीं शताब्दी में चूँकि मुखौटों का परित्याग कर दिया गया था, अतः मुखमुद्राओं का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था । अभिनय में आङ्गिक एवं वाचिक अभिनयों का ही प्राधान्य था सात्त्विक अभिनय उपेक्षित ही रहा । अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के महान् अभिनेता डेविड गैरिक के प्रयासों से रंगमंचीय व्यवस्था में विकास हुआ तथा कृत्रिमता में कुछ न्यूनता आई।[1] शेक्सपियर के समय में ही 'कामेडिया डेल आर्ट' द्वारा अभिनेता की व्यक्तिगत क्षमता का उपयोग किया जाता था । अभिनेता अपनी क्षमता से झीने कथानक के आधार पर अनुरचित नाटक प्रस्तुत करता था ।[2] यद्यपि यह शैली अपने प्राकृतिक स्वरूप के कारण अत्यन्त लोकप्रिय थी, तथापि इसके द्वारा केवल प्रहसन ही प्रस्तुत किये जा सकते थे । आचार्य भरत ने भी शास्त्रीय पद्धतियों के अतिरिक्त अभिनेता की क्षमता के अनुरूप लोक-प्रचलित रीति अपनाने के निर्देश स्थान-स्थान पर दिये हैं ।

एवमेते मया प्रोक्ता नाट्ये वाभिनयाः स्मृताः ।
अन्ये तु लौकिका ये ते लोकाद् ग्राह्याः सदा बुधैः ॥'[3]

---

1. भारतीय रंगमंच का विवेचनात्मक इतिहास, अध्याय-आधुनिक अभिनय-पद्धतियाँ ।

2. वही.

3. नाट्यशास्त्र 26/117.

तथापि उन्होंने शास्त्रीय विधि से सम्पादित अभिनय को ही श्रेष्ठ कहा है -

'या यस्य लीला नियता गतिश्च
रङ्गं प्रविष्टस्य विधानयुक्ता: ।
तामेव कुर्यादविमुक्तसत्त्वो
यावन्न रागात् प्रतिनि:सृत: स्यात् ॥'[1]

वास्तव में दोनों ही तत्त्वों का उचित समन्वय नाट्य की प्रस्तुति को अतिसुन्दर एवं लोकग्राह्य बना देता है । अभिनेता को अभिनय-प्रणाली का ज्ञान कलात्मक दृष्टि प्रदान करता है तथा किंचित् स्वतन्त्रता अभिनय में स्वाभाविकता को जन्म देती है । इसीलिये आचार्य भरत अपने सिद्धान्तों के अनुरूप ही महान् हैं।

1749-1832 ई० में गेटे जो जर्मन नाटककार होने के साथ-साथ निर्देशक भी था, उसने अभिनय के कतिपय नियमों का प्रतिपादन किया, किन्तु इन नियमों का कोई कड़ाई से पालन करवाने के कारण इनमें कृत्रिमता आ गई थी ।[2] भरत के द्वारा प्रतिपादित अभिनय-पद्धतियाँ अपने लचीलेपन के कारण अकृत्रिम अभिनय की प्रस्तुति में सहायक सिद्ध होती थीं ।

उन्नीसवीं शताब्दी में अभिनय की जिस नवीन पद्धति ने जन्म लिया वह थी 'प्रकृतिवाद' । जार्ज फ्रीडले तथा जान ए रीव्स ने थियेटर मिड्रे (1887) की प्रशंसा करते हुये कहा है "कि 'उसने प्रकृतिवाद के प्रवर्तन की अपेक्षा कुछ अधिक ही

---

1. नाट्यशास्त्र 26/118.

2. भारतीय रंगमंच का विवेचनात्मक इतिहास, अध्याय-आधुनिक अभिनय-पद्धतियाँ ।

किया है । उसने पेरिस में रंगमंच की एवं अभिनय की सम्पूर्ण अवधारणा ही बदल दी है, जो रंगमंच पर अनुदारतावाद का गढ़ था । आन्त्वाइन 1118-1943 थियेटर लिब्रे का संस्थापक एवं प्रयोक्ता ने अभिनय की भावात्मक परम्परा में सुधार किया ।[1]

वस्तुतः प्रकृतिवादी अभिनय कला ने नवीन तथ्यों को जन्म दिया । अभिनेता के लिये यह आवश्यक हो गया कि वह भूमिका को अभिनीत करने से पूर्व उसे भलीभाँति समझे, तभी वह अभिनय कर सकता है ।

आचार्य भरत ने इस आवश्यकता की ओर सात्त्विक-अभिनय-विवेचन के सन्दर्भ में इंगित किया है तथा सुस्पष्ट रूप से कहा भी है कि मन के स्थिर होने पर ही पात्र भूमिका भलीभाँति अभिनीत कर सकता है ।

मास्को आर्ट थियेटर के निर्देशक स्टेनिस्लावस्की 11863-19381 ई0 ने नई शैली 'यथार्थवाद' को जन्म दिया । इन्होंने अभिनय के विशिष्ट सिद्धान्तों का पोषण किया, यथा पात्र के साथ एकाग्रता एवं तद्रूपता, अभिनेता की सृजनात्मक प्रवृत्ति, आङ्गिक-अभिनय की स्वतंत्रता और भावाभिव्यक्ति की स्वाभाविकता इत्यादि ।[2] स्टेनिस्लावस्की के विचार से अभिनेता तभी सफल हो सकता है जबकि उसके पास लौकिक जीवन के पर्याप्त अनुभव हों । यह अनुभव अभिनेता के व्यक्तिगत

---

1. भारतीय रंगमंच का विवेचनात्मक इतिहास,
   अध्याय - आधुनिक अभिनय - पद्धतियाँ ।

2. वही.

कौशल एवं क्षमता को विकसित करता है । आचार्य भरत ने भी स्पष्ट रूप से उद्घोषणा की है -

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥[1]

स्टेनिस्लावस्की ने शनैः शनैः कथावस्तु की आवश्यकतानुसार वातावरण-सृजन अर्थात् दृश्यबन्ध इत्यादि की उपेक्षा करनी प्रारम्भ कर दी । फलतः अभिनय में सहृदय का पक्ष गौण होता चला गया और अभिनय मात्र पात्रों की भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधन तो रहा परन्तु दर्शक उपेक्षित हो गया । आचार्य भरत की दृष्टि में ही क्या, सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य-शास्त्र में काव्य का लक्ष्य सहृदय को आनन्दानुभूति कराना ही है ।

अभिनय-प्रणालियों में मेयरहोल्ड का रीतिवाद तथा रूस के नाटककार लियोनिद आन्द्रोयेव, जर्मनी के नाटककार जार्ज कुसर तथा स्वीडन के नाटककार अगस्त स्ट्रिन्डबर्ग के द्वारा स्वीकृत अभिव्यंजनावाद उल्लेखनीय हैं । अभिव्यंजना-वाद रीतिवाद का ही एक विशिष्ट प्रकार है । रीतिवाद से तात्पर्य प्रतीकवाद है । इस शैली में विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति के प्रतीकों का प्रयोग किया जाता था । पात्र एवं सामाजिक के मध्य यवनिका का प्रयोग नहीं होता था । रीतिवाद के अन्तर्गत यथार्थ का सचेतन एवं विधिवत् विद्रूपण किया जाता है और उसमें रूढ़ियों की एक निश्चित् प्रणाली का व उपयोग किया जाता है । रीति-बद्ध उपस्थापन में दृश्यावली को कोणात्मक बनाकर अत्यन्त सरल करके अथवा उसे अतिशयोक्तिपूर्ण बनाकर प्रस्तुत किया जा सकता है, जिससे टावर, महल अथवा झुग्गी

---

1. नाट्यशास्त्र 1/112.

की छाया से सम्पूर्ण मंच आच्छादित हो जाय । खास ढंग के मुखौटों, तीखी मुख भंगिमाओं अथवा संगीतात्मक स्वर का भी रीतिबद्ध अभिनय में उपयोग किया जा सकता है ।[1]

भरत द्वारा प्रतिपादित चित्राभिनय प्रतीकाभिनय ही है । यद्यपि कुछ अर्थों में यह पाश्चात्य विचारधारा से पूर्णतया भिन्न है । यह भिन्नता समयावधि के अन्तराल के कारण है तथा वैचारिक भिन्नता के कारण भी है । रीतिवाद अत्यधिक प्रतीकवादी होने के कारण केवल बौद्धिक स्तर से श्रेष्ठ लोगों तक सीमित रह गया, जबकि आचार्य भरत ने उन्हीं प्रतीकों के उपयोग का विधान किया है जो लोकरीति में प्रचलित हों और जिन्हें जनसामान्य ग्रहण कर सके ।

बीसवीं शताब्दी के जर्मन नाटककार बर्टोल्ट ब्रेख्ट ने 'महाकाव्यात्मक-अभिनय' के नाम से प्रसिद्ध अभिनय-सूत्रों का प्रतिपादन किया ।[2] इस सिद्धान्त के अनुसार अभिनेता को अभिनय करते समय अनुकार्य के भावों से तादात्म्य नहीं स्थापित करना चाहिये, अपितु अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखना चाहिये । अभिनय के समय अभिनेता का निर्लिप्त होना परमावश्यक है । तटस्थता के अतिरिक्त अभिनेता में सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का होना भी आवश्यक है । इसके लिये अनुकरण पर्याप्त नहीं है ।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में सारा रस-विवेचन सहृदय परक है, नट पर आधारित नहीं है, तथापि आचार्य भरत ने नट में सहृदय के गुणों की अनिवार्यता पर बल

---

1. भारतीय रंगमंच का विवेचनात्मक इतिहास,
   अध्याय - आधुनिक अभिनय पद्धतियाँ ।

2. वही.

दिया है । यह सब केवल इसलिये है कि अभिनेता रस एवं भाव का विवेचन करने में समर्थ हो जिससे इन रसों एवं भावों की अभिव्यक्ति सफलता पूर्वक कर सके । आचार्य भरत ने अनुकरण शब्द को अत्यन्त व्यापक अर्थों में ग्रहण किया है । उनके अनुसार अनुकरण के सभी तत्त्व बाह्य वातावरण में ही रहते हैं । अतः लोक-व्यवहार के अवलोकन और उनके अनुकरण द्वारा नाट्यार्थ को अभिनीत किया जा सकता है । अतः ब्रेख्ट द्वारा प्रतिपादित ये दोनों ही सिद्धान्त भरत की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ नहीं हैं । भरत की दृष्टि में ये सभी तत्त्व विद्यमान थे और उन्होंने इनका अत्यन्त सूक्ष्मता से विवेचन किया है । ब्रेख्ट ने अभिनय में काव्य एवं सङ्गीत को भी पर्याप्त प्रश्रय दिया है । आचार्य भरत ने वाचिक अभिनय के संदर्भ में छन्दों की रचना की विस्तृत विवेचना एवं छन्दों की रसानुगता का सिद्धांत प्रतिपादित करके भाव-सम्प्रेषण में काव्य को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है । भरत ने सङ्गीत के प्रयोग को भी पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया है जो -

'ततोपवहनं कृत्वा भाण्डवाद्यपुरस्कृतम्'

इत्यादि उक्तियों से ज्ञात होता है ।

आधुनिक युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप भरत के कतिपय सिद्धान्त उपयोगी नहीं रहे हैं । तथापि भरत अभिनय के प्रति जो दृष्टि थी वह आज भी उपयोगी है, भरत के सिद्धान्तों में जो आत्मतत्त्व है वह आज भी प्रासङ्गिक है । भरत द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में आङ्गिक अभिनय के सिद्धान्त का महत्त्व आज भी भारतीय संस्कृति में सुरक्षित है । भारत की प्रमुख नृत्यशैलियाँ भरत के नाट्यशास्त्र पर ही आश्रित हैं जो आचार्य भरत के महत्त्व को अक्षुण्ण बनाये हुये हैं । वाचिक अभिनय में प्रतिपादित कुछ सिद्धान्त यथा छन्द-रचना, गुण, दोष एवं अलङ्कारादि का विवेचन परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का उपजीव्य ही बन गया है तथा आज भी इनका महत्त्व बना हुआ है । अभिनय के अन्तर्गत आहार्याभिनय विभिन्न संस्कृतियों की मानों झाँकी ही है, जो तत्कालीन समाज को रंगमंच पर जीवन्तता

प्रदान करने के लिये निर्देशक को अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है । सात्त्विक अभिनय का सूक्ष्म विवेचन अत्यन्त मनोवैज्ञानिक होने के कारण देश-काल की परिधि से परे आज भी उपादेय है । अतः आचार्य भरत और उनके अभिनय-सिद्धान्तों की आधुनिक संदर्भ में प्रासङ्गिकता वर्तमान है ।

उपसंहार

यदि संस्कृत-नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित चतुर्विध नाट्याभिनय को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो आहार्य अभिनय तो पूरी तरह बाह्य है तथा इसका अभिनय-पक्ष अभिनेता के अतिरिक्त निर्देशक के क्षेत्र में चला जाता है । यही कारण है कि आहार्याभिनय को आचार्य भरत ने सामान्याभिनय के अन्तर्गत स्थान नहीं प्रदान किया है । अभिनेता के बाह्य पक्ष को अलङ्कृत करके नाट्यार्थ की अभिव्यक्ति को सहज बनाने में आहार्याभिनय का योगदान अवश्य है, किन्तु मात्र बाह्य पक्ष को अलङ्कृत करने के कारण अभिनेता के कौशल से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है इसीलिये इसका अन्य अभिनय-प्रभेदों की अपेक्षा महत्त्व कम है । वाचिक अभिनय का प्रतिपादन करते समय भरत ने व्यापक दृष्टिकोण अपनाते हुये अभिनेता एवं कवि दोनों को दृष्टि में रखा है । अतः वाचिक अभिनय में कवि-कर्म अर्थात् नाट्य की रचना शैली का प्रभाव भी दर्शकों पर पड़ता है । उत्तम संवाद-रचना दर्शकों में नाट्यार्थ के सम्प्रेषण में सफल होगी । इसका इतर पक्ष अर्थात् उच्चारण इत्यादि का विधान ही अभिनेता से सम्बन्धित है । यह पक्ष अभिनेता एवं निर्देशक के परिश्रम से साध्य है । अतः इस अभिनय-प्रभेद को भी सामान्य स्थान ही प्राप्त है । आङ्गिक अभिनय आङ्गिक चेष्टाओं के माध्यम से सम्पन्न किया जाता है । चारीविधान के प्रसंग में आचार्य भरत ने व्यायाम शब्द का प्रयोग किया है, जो कि आङ्गिक अभिनय का अभ्यास से साध्य होने का परिचायक है । आङ्गिक अभिनय के लिये अभिनेता में विशिष्ट प्रतिभा का होना आवश्यक नहीं है । आङ्गिक अभिनय का सम्पादन अभ्यास के द्वारा कुशलता प्राप्त कर लेने के पश्चात् किया जा सकता है ।

आचार्य भरत ने स्वयं ही अभिनय में आङ्गिक चेष्टाओं की अधिकता का निषेध किया है । आङ्गिक चेष्टाओं का बाहुल्य नाट्य की प्रस्तुति में अभिनय के स्तर को न्यून बनाता है । अभिनय-प्रभेदों में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त प्रभेद सात्त्विक अभिनय ही है । इस अभिनय का सम्पादन अत्यन्त दुष्कर कार्य है । सात्त्विक अभिनय के सम्पादन में मन का समाहित होना आवश्यक है । जो भाव नट में वास्तविक रूप से नहीं हैं, उन अन्तर्हृदयस्थ भावों को देहज रूप में प्रकट करना दुःसाध्य है । सात्त्विक भावों का मनोशारीरिक स्वरूप इसको अत्यन्त जटिलता प्रदान करता है । सात्त्विक भावों का अभिनय नाट्य प्रस्तुति को अत्यन्त सफल एवं श्रेष्ठ बनाता है । यहाँ सात्त्विक भावों के अभिनय का विशिष्ट विवेचन इसके महत्त्व को ध्यान में रखकर ही किया गया है । वस्तुतः अभिनय का कार्य ऐका-ङ्गिक नहीं है । इसके सम्पादन में सम्पूर्ण रंगकर्म समन्वित होकर ही नाट्य को सफलता प्रदान कर सकता है -

नानाविधैर्यथा पुष्पैर्मालां ग्रथ्नाति माल्यकृत् ।
अङ्गोपाङ्गैः रसैर्भावैस्तथा नाट्यं प्रयोजयेत् ।।

----------::0::----------

सहायक - ग्रन्थ

15.	नाट्यशास्त्रसंग्रह (भाग 1,2,3,4)		संपादक रामकृष्ण कवि गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा
16.	नागानन्द	श्रीहर्षदेव	दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1970
17.	नृत्याध्याय	अशोकमल्ल	सं0 वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद द्वितीय संस्करण, 1971.
18.	प्रतापरुद्रीयम्	विद्यापति	(रत्नापण टीका)
19.	प्रतिमानाटकम्	भास	सं0 कपिलदेव द्विवेदी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1953
20.	बालरामभरतम्	बालरामवर्मा	सं0 के0 साम्बशिवशास्त्री प्रका0 महाराजा आफ ट्रावनकोर, 1935
21.	भरतार्णव	नन्दिकेश्वर	सं0 वाचस्पति गैरोला, वाराणसी, 1978.
22.	भक्तिरसामृतसिन्धुः	जीवगोस्वामी	दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, वाराणसी, 1970
23.	भाव प्रकाशन	भाव प्रकाशन	प्रथम संस्करण, 1978, आगरा-3
24.	मालविकाग्निमित्रम्	कालिदास	सं0 हरिदास भट्टाचार्य, कलकत्ता
25.	मृच्छकटिकम्	शूद्रक	चौखम्भा, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, संवत् 2019.
26.	मुद्राराक्षस	विशाखदत्त	1972, इलाहाबाद-3
27.	रसगङ्गाधर	जगन्नाथ पण्डितराज	चौखम्भा विद्या भवन, चौक, बनारस-1
28.	रस तरङ्गिणी	भानुदत्त मिश्र	व्याख्या पं0 सीताराम चतुर्वेदी वाराणसी, प्रथम संस्करण, वि0सं0 2025

29. रसार्णव सुधाकर — सिंहभूपाल — सागर, 1969

30. रत्नावली — श्री हर्षदेव — द्वितीय संस्करण, इलाहाबाद-2

31. विष्णुधर्मोत्तरपुराण (खण्ड 3 भाग 1) — सं0 प्रियबाला शाह, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा

32. विक्रमोर्वशीयम् — कालिदास

33. वेणीसंहार — भट्टनारायण — इलाहाबाद-2, प्रथम संस्करण, 1971

34. स्वप्नवासवदत्तम् — भास — इलाहाबाद-1986

35. सरस्वती कण्ठाभरण — धारेश्वर भोजदेव — पाण्डुरंग शावजी, बाम्बे, 1934

36. साहित्यदर्पण — विश्वनाथ — वाराणसी 1970

37. सङ्गीत रत्नाकर — शार्ङ्गदेव — सं0 पं0 सुब्रह्मण्यशास्त्री, मद्रास, 1953

38. शृङ्गारप्रकाश — भोजदेव

सहायक -हिन्दी ग्रन्थ

1. नाटक और रंगमंच — (डा0 चन्द्रलाल दूबे अभिनन्दनग्रन्थ) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1979

2. नाट्यसाहित्य का अध्ययन — केंडर मैथ्यूज — हिन्दी अनुवाद इन्दुजा अवस्थी, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1964

3. नाटक दर्शन — शान्तिगोपाल पुरोहित — पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1970

4.	नाट्यकला	रघुवंश	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-1961
5.	नाट्यकला प्राच्य एवं पाश्चात्य	सुदर्शन मिश्र	भारत मनीषा, वाराणसी 1974
6.	नाट्यकला मीमांसा	सेठ गोविन्ददास	मध्यप्रदेश शासन, साहित्य परिषद, भोपाल, 1961
7.	प्राचीन भारतीय संस्कृति और कला	ईश्वरी प्रसाद	तृतीय संस्करण 1986, इलाहाबाद
8.	भरत और अरस्तू के नाट्यतत्वों की तुलना	गोवर्द्धन सिंह	हिन्दी बुक सेन्टर, दिल्ली
9.	भरत और भारतीय नाट्यकला	सुरेन्द्रनाथ दीक्षित	दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1970
10.	भारतीय और पाश्चात्य रंगमंच	सीताराम चतुर्वेदी	हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश लखनऊ, प्रथम संस्करण, 1964
11.	भारतीय रंगमंच का विवेचनात्मक इतिहास	डा० अज्ञात	
12.	भारतीय नाट्य सौन्दर्य	डा० मनोहर काले	
13.	रससिद्धान्त-स्वरूप एवं विश्लेषण	डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित	दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1972
14.	स्वतंत्रकलाशास्त्र (भाग 1,2)	डा०कान्तिचन्द्र	
15.	संस्कृति के महाकवि और काव्य	रामजी उपाध्याय	प्रथम संस्करण, इलाहाबाद - 2, 1965

English Books

1. Abhinaya Darpana, Nandikeshwar, Ed. M.M. Ghosh, Calcutta, 1934.

2. Action for the Stage Sydeny, W.C. Pitman and Sons, 1947.

3. Aristotle and Bharata, Dr. R.L. Singh, V.V.R.I., Hoshiarpur.

4. The theory of drama in ancient India, R.L. Ahuja, Ambala Cantt., 19[illegible]4.

5. Psychological Studies in Rasa, Rakesh Gupta, Varanasi, 1950.

——————::O::——————